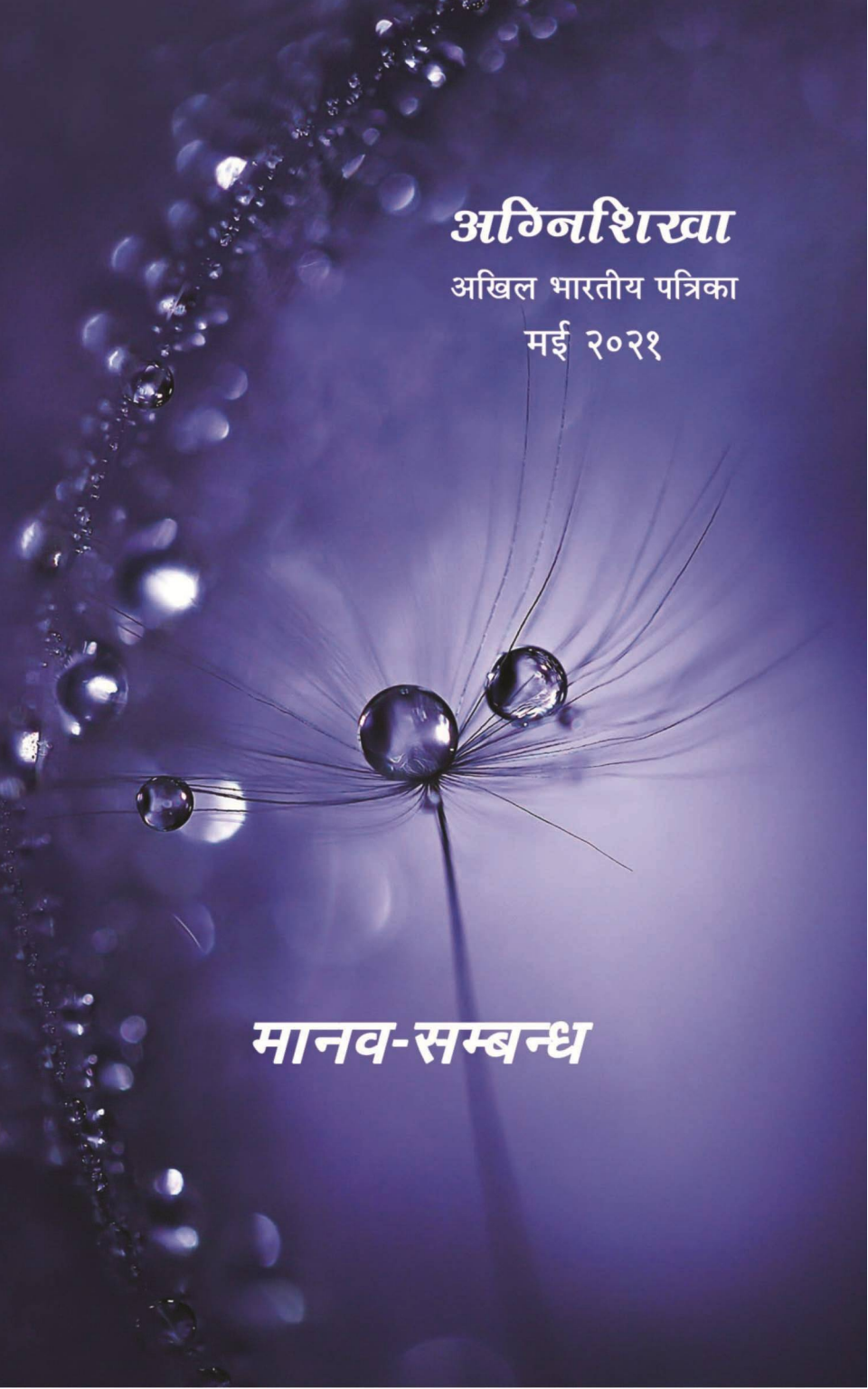

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मई २०२१

मानव-सम्बन्ध

विषय-सूची

मानव-सम्बन्ध

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
मानव-सम्बन्धों के विभिन्न स्तर	६
हमारा सबसे अच्छा मित्र	१२
मानव-प्रेम	१८
असामञ्जस्य का स्रोत	२३
स्वस्थ बनने का गभीरतर उपाय	२८
सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक नया आधार	३४

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी		४८
श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार	**'श्रीमातृवाणी' से**	५०
वह ख़ुशनसीब दिन	वन्दना	५२
सच्चे स्नेह का स्रोत	नरेन्द्र विद्यावाचस्पति	(आवरण ३)

अप्रैल २०२१ की अग्निशिखा की विषय-सूची में पृष्ठ-संख्याओं में बहुत गड़बड़ हो गयी है जिसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं—सं.

सन्देश

भगवान् के साथ अकेले रहना साधक की समस्त अनुकूल परिस्थितियों में सर्वोत्तम है, क्योंकि यही वह स्थिति है जिसमें वह आन्तरिक रूप से भगवान् के सबसे अधिक निकट आता है और समस्त सत्ता को अपने हृदय-कक्ष तथा विश्व-मन्दिर के अन्दर एकत्व में बदल सकता है। इसके अतिरिक्त, सबके साथ वास्तविक एकता का प्रारम्भ और आधार यही है, क्योंकि यह उस एकता को उसके सच्चे आधार पर, भगवान् पर स्थापित करता है, क्योंकि वास्तव में भगवान् में ही साधक सबके साथ मिलता और युक्त होता है, और फिर वह अपने मानसिक और प्राणिक अहंकार के अनिश्चित आदान-प्रदान की स्थिति में नहीं रहता। अतः, एकाकीपन से डरो मत, बल्कि श्रीमाँ पर पूरा भरोसा रखो और उनकी शक्ति तथा कृपा के सहारे अपने पथ पर आगे ही आगे बढ़ते चलो।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२) पृ. ३१०

सम्पादकीय : मनुष्य के अस्तित्व के कई चुनौतीपूर्ण क्षेत्र हैं, उनमें से एक बहुत ही अहम् है—जगत् के साथ हमारा सम्बन्ध, विशेषकर मनुष्यों के बीच का आपसी सम्बन्ध। भगवान् से प्रेम करना ज़्यादा आसान है, मनुष्य से प्रेम करना कहीं अधिक कठिन है। और निकट सम्बन्ध तो और भी बड़ी चुनौतियाँ सामने खड़ी कर देते हैं।

हमारा यह अंक इसी को समर्पित है। यानी, योग की दृष्टि से मानव-प्रकृति के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास...।

एकमात्र 'वे' ही सर्वसमर्थ हैं

भगवान् को छोड़ कर अन्यत्र कहीं कोई अवलम्ब मत खोजो। भगवान् को छोड़ कर अन्यत्र कहीं सन्तुष्टि की खोज मत करो। भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की खोज मत करो —कभी, एकदम किसी भी वस्तु के लिए नहीं। तुम्हारी सभी आवश्यकताएँ केवल भगवान् के द्वारा ही पूरी हो सकती हैं। तुम्हारी सभी दुर्बलताओं को केवल भगवान् ही वहन कर सकते और दूर कर सकते हैं। एकमात्र वे ही तुम्हें वह चीज़ देने में समर्थ हैं जिसे तुम प्रत्येक बात में, सर्वदा, आवश्यक समझते हो, और यदि तुम कोई सन्तुष्टि या सहारा या साहाय्य या सुख या... भगवान् जाने और क्या-क्या, अन्य किसी से पाने की चेष्टा करो तो तुम सदा अपने मुँह के बल गिर पड़ोगे, और उससे तुम्हें सदैव चोट पहुँचेगी, कभी-कभी बहुत अधिक चोट पहुँचेगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४६९

भगवान् तुम्हारे साथ हैं

यह कभी न भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारी सहायता और तुम्हारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। 'वे' ऐसे साथी हैं जो कभी धोखा नहीं देते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम दिलासा देता और बल देता है। श्रद्धा रखो और वे तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १०

आदर्श वृत्ति है केवल भगवान् का ही होना, केवल भगवान् के लिए ही कार्य करना और सबसे बढ़ कर, केवल भगवान् से ही बल, शान्ति और सन्तुष्टि की आशा करना। भगवान् परम दयालु हैं और वह सब देते हैं जिसकी हमें लक्ष्य तक यथाशीघ्र पहुँचने के लिए ज़रूरत हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १६-१७

मानव-सम्बन्धों के विभिन्न स्तर

यदि हम अपने साथियों के निकट आने के कारणों का ज़रा ध्यान से निरीक्षण करें तो देखेंगे कि ये सम्बन्ध हमारी सत्ता के विभिन्न स्तरों पर, हमारी चेतना की विशेष क्रिया-धाराओं के अनुसार, बने हैं।

इन सम्बन्धों को हम अपनी चेतना की क्रिया के चार प्रधान प्रकार के अनुसार चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं: भौतिक, प्राणिक, आन्तरात्मिक और मानसिक। और ये सम्बन्ध अपनी व्यक्त क्रियावली के गुण और प्रकार के अनुसार इन श्रेणियों में से किसी एक में अथवा एक से अधिक में एक साथ या बारी-बारी से आ सकते हैं।

भौतिक सम्बन्ध तो एक तरह से अनिवार्य है, क्योंकि हम भौतिक शरीरधारी हैं। यह सम्बन्ध स्वभावतः उनके साथ होता है जिन्होंने हमें यह शरीर प्रदान किया है, साथ ही उन सबके साथ भी जो उन पर भौतिक आवश्यकताओं के लिए निर्भर करते हैं। ये रिश्तेदारी के सम्बन्ध हैं। कुछ सम्बन्ध पड़ोसी होने के नाते बनते हैं, उदाहरणार्थ, मकान का पड़ोस, नाना सवारियों में पड़ोस, सड़कों पर मिलन। (यहाँ एक बात कह दूँ—और यह बात अन्य तीनों श्रेणियों के सम्बन्ध में भी लागू होती है—वह यह कि यह ज़रूरी नहीं है कि ऐसा सम्बन्ध केवल भौतिक ही होता हो; वास्तव में ऐसा तो शायद ही कभी होता हो, क्योंकि हम विरले ही अपनी सत्ता के किसी एक ही स्तर पर क्रियाशील रहते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि इन सम्बन्धों में भौतिक तत्त्व अन्य तीनों से प्रबल रहता है।)

प्राणिक सम्बन्ध होता है उन आवेगों और इच्छाओं का सम्बन्ध जो दोनों में एक समान होते हैं या जो आपस में मिल कर एक-दूसरे के पूरक और वर्धनशील होते हैं।

आन्तरात्मिक सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जो आध्यात्मिक अभीप्साओं के मेल से बनता है।

मानसिक सम्बन्ध होता है विचारों और रुचियों में सादृश्य होने से या उनके आपस में एक-दूसरे के पूरक होने से।

सामान्यतः, जब तक इनमें से किसी एक श्रेणी की प्रधानता बाक़ी तीनों पर स्पष्ट रूप से स्थापित न हो गयी हो—और यह प्रधानता तभी

हो सकती है जब सत्ता की गहराई और जटिलता में सुव्यवस्थित विन्यास हो जाये—तब तक जो लोग भौतिक कारणों से हमारे समीप हैं हम उन्हें भौतिक रूप में सहायता दे सकते हैं, और देनी भी चाहिये।

अपवादों को छोड़ कर, अपने कुटुम्बी-जनों के लिए तथा उनके लिए जिनसे हम गाड़ी, जहाज़ या ट्राम आदि में मिलते हैं, यह भौतिक सहायता ही सर्वोत्तम सहायता होती है और इसका रूप होता है आर्थिक सहायता, बीमारी या संकट के समय सहायता।

जो लोग कलात्मक या अन्य रुचियों के सादृश्य के कारण हमारी ओर आकर्षित हुए हैं हमें उनकी संवेदनशील सत्ता की सहायता करनी चाहिये। यह हम उनकी संवेदक-शक्तियों को उचित, सन्तुलित करके या उसको सम्यक् दिशा दिखा कर कर सकते हैं।

जिनके साथ हमारा सम्पर्क प्रगति की अभीप्सा के सादृश्य के कारण हुआ है उनकी सहायता हम अपने उदाहरण द्वारा उन्हें मार्ग दिखा कर, अपने प्रेम के द्वारा उनके मार्ग की कठोरता को कम करके कर सकते हैं।

अन्त में, जो लोग हमारे निकट मानसिक आकर्षणों को लेकर आते हैं उनके प्रति हमारा कर्तव्य यह है कि हम उनकी बुद्धि के प्रकाश को तेज़ करें, यदि सम्भव हो तो उनके विचार-क्षेत्र को विस्तृत और आदर्श को आलोकित करें।...

कुछ विरले ऐसे होते हैं जो एक साथ सत्ता के इन चारों प्रकार के सम्बन्धों से हमारे निकट हों। मित्रता के गहनतम अर्थ में ऐसे लोग ही हमारे मित्र हैं। इन्हीं के लिए हम अत्यधिक समग्र और पूर्ण रूप से उपयोगी और कल्याणकारी कार्य कर सकते हैं। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि दो मानव जीवनों का सम्पर्क कितना स्थायी होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनको जोड़ने वाले आकर्षण सत्ता के कितने स्तरों पर हैं और उन स्तरों पर कितनी गहराई तक क्रियाशील हैं।

केवल वे ही आपस में सदा के लिए संयुक्त हो सकते हैं जो अपने तथा समस्त वस्तुओं के शाश्वत तत्त्व में मिलते हैं, सायुज्य स्थापित करते हैं।

चिर मित्र वे ही हैं जो सदा मित्र रहते हैं, चाहे दूर हों, चाहे पास, चाहे इस जगत् में, चाहे अन्य जगतों में।

और ऐसे मित्रों के साथ हमारा मिलना किसी ऐसे पूर्व-मिलन पर निर्भर

है जो हमारी सत्ता की अजानी गहराई में हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त, जब कभी ऐसा मिलन होता है तो हमारा समस्त मनोभाव बदल जाता है।

जब हम अन्तःस्थित भगवान् के साथ एक हो जाते हैं तो सभी चीज़ों के साथ उनकी गहराई में एक हो जाते हैं। वास्तव में, सबके साथ हमारा सम्बन्ध भगवान् में और भगवान् के द्वारा ही होना चाहिये। तब, न आकर्षण रहता है, न विकर्षण, न अनुराग, न विराग। जो भगवान् के निकट है, उसके हम निकट होते हैं, और जो उनसे दूर है, उससे दूर।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ८०-८३

यह तो बच्चों की-सी सरल बात है। यदि तुम्हारी चेतना पशु की चेतना है, तो तुम प्रेम भी पशु के समान ही करोगे। यदि तुम्हारी चेतना एक सामान्य व्यक्ति की चेतना है तो तुम प्रेम भी एक सामान्य व्यक्ति की भाँति ही करोगे। यदि वह एक प्रबुद्ध सत्ता की चेतना है तो तुम्हारा प्रेम एक प्रबुद्ध सत्ता का प्रेम होगा, और यदि तुम्हारे पास भगवान् की चेतना है तो तुम भगवान् के समान प्रेम करोगे। बड़ी सरल-सी बात है! मैंने यही कहा है। अतएव, यदि तुम उन्नति और आन्तरिक रूपान्तर के लिए प्रयत्न करके, अभीप्सा और विकास के द्वारा एक चेतना से दूसरी चेतना में प्रवेश कर लेते हो एवं तुम्हारी चेतना अधिकाधिक विशाल बन जाती है तो तुम जिस प्रेम का अनुभव करोगे वह अधिकाधिक विशाल होगा। बड़ी स्पष्ट बात है यह!

तुम स्वच्छतम जल लेते हो, स्फटिक-सम चट्टानों से झरता हुआ जल, उसे एक बड़े-से पात्र में भरते हो, और फिर, इस पात्र में ज़रा-सी या अधिक, या बहुत अधिक मिट्टी है। अब तुम यह नहीं कह सकते कि यह वही जल है जो झरने से आया था, यूँ तो यह वही है, किन्तु तुमने उसमें इतनी चीज़ें मिला दी हैं कि वह उस पहले जल से बिलकुल नहीं मिलता! हाँ तो, प्रेम अपने सारतत्त्व में विशुद्ध, पारदर्शी और पूर्ण वस्तु है। मानव की चेतना में वह काफ़ी सारी मिट्टी से मिल कर गँदला हो जाता है। तो जितनी अधिक मिट्टी होगी उतना ही अधिक वह गँदला होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ११७

प्रीति

जिस तथ्य की तुम चर्चा कर रहे हो वह मानव-प्रकृति के लिए स्वाभाविक है। लोग प्रीति की किसी विशेष भावना के कारण, अपने स्वभाव के किसी भाग और दूसरे के स्वभाव के किसी भाग के बीच मेल या आकर्षण होने के कारण परस्पर आकर्षित होते हैं या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की ओर आकर्षित होता है। प्रारम्भ में यह केवल अनुभूत होता है; मनुष्य दूसरे के स्वभाव के अन्दर जो कुछ उसके लिए अच्छा या सुखद होता है उस सबको देखता है और यहाँ तक कि शायद उन गुणों को भी उस पर आरोपित कर देता है जो उसमें नहीं होते या उतने अधिक नहीं होते जितना कि वह सोचता है। परन्तु अधिक घनिष्ठ परिचय होने पर स्वभाव के अन्य भागों का अनुभव होता है जिनके साथ उसके स्वभाव का कोई मेल नहीं होता — सम्भवतः विचारों का संघर्ष होता है या भावनाओं में विरोध होता है या दो अहंकारों का द्वन्द्व होता है। यदि वहाँ प्रबल प्रेम या स्थायी प्रकार का मैत्री-भाव होता है तो मनुष्य सम्पर्क की इन कठिनाइयों को जीत सकता और एक प्रकार का सामञ्जस्य या मेल-मिलाप स्थापित कर सकता है; परन्तु बहुधा यह चीज़ वहाँ नहीं होती अथवा विरोध इतना तीव्र होता है कि मेल-मिलाप की प्रवृत्ति को वह निष्फल कर देता है अथवा अहंकार इतना घायल हो जाता है कि वह पीछे हट जाता है। तब मनुष्य के लिए यह बिलकुल सम्भव हो जाता है कि वह दूसरे के दोषों को बहुत अधिक देखना या अतिरञ्जित रूप में देखना आरम्भ कर दे या फिर वह दूसरे के ऊपर बुरे या दुःखदायी प्रकार की ऐसी बातों का आरोप लगा देता है जो उसमें नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में सारा दृष्टिकोण ही बदल सकता है, सद्भावना दुर्भावना में, स्नेह स्नेहहीनता में, यहाँ तक कि शत्रुता या विद्वेष में भी बदल सकता है। यह मनुष्य-जीवन में सर्वदा घटित हो रहा है। इसके विपरीत भी घटित होता है, पर कम आसानी से—अर्थात् दुर्भावना से सद्भावना में, विरोध-भाव से सामञ्जस्य में परिवर्तन। पर, निस्सन्देह, यह आवश्यक नहीं कि किसी व्यक्ति के प्रति बुरा मत या बुरी भावना केवल इसी कारण उत्पन्न हो। ऐसा कई कारणों से, सहज-स्वाभाविक नापसन्दगी, ईर्ष्या, विरोधी हितों इत्यादि के कारणों से भी घटित होता है।

मनुष्यों को दूसरों को शान्त-स्थिर भाव से; उनके गुणों या दोषों पर अत्यधिक बल दिये बिना, किसी दुर्भावना या ग़लतफ़हमी या अविचार के बिना, शान्त-स्थिर मन और दृष्टि से देखने की चेष्टा करनी चाहिये।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३१६-१७

जगद्गुरु भगवान् का शिष्य बनना, जगत्पिता भगवान् का पुत्र होना, जगन्माता भगवान् का स्नेह पाना, दिव्य सुहृद् का हाथ पकड़े रहना, अपने दिव्य सहचर तथा बाल-सखा के साथ हँसना-खेलना, स्वामी भगवान् की आनन्दपूर्वक सेवा करना, अपने दिव्य प्रेमी से हर्षातिरेक के साथ प्रेम करना–मानव शरीर में जीवन के ये सात प्रकार के आनन्द हैं। क्या तू इन सबको एक ही सर्वोत्तम और इन्द्रधनुषी रंग के सम्बन्ध के अन्दर युक्त कर सकता है? तब तुझे किसी स्वर्ग की आवश्यकता न रहेगी और तू अद्वैतवादी की मुक्ति को भी अतिक्रम कर जायेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ४०३

श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द

दर्शन-दिवस—२४ अप्रैल १९५०

हमारा सबसे अच्छा मित्र

"हमारा सबसे अच्छा मित्र वह है जो हमारी सत्ता के सर्वश्रेष्ठ भाग में हमसे प्रेम करता है और फिर भी, हम जो कुछ हैं उससे कुछ भिन्न बनने को नहीं कहता।"

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३१७

मुझे इसका मतलब समझाने के लिए कहा गया है। मेरी बड़ी इच्छा होती है कि मैं तुमसे सब प्रकार की विरोधाभासी वस्तुएँ कहूँ। पर फिर भी...

जो भी हो, जब मैंने यह लिखा था तो मैं एक ऐसी बात के बारे में सोच रही थी जिसे लोग सामान्यतः भूल जाते हैं। हम अपने मित्रों तथा अपने चारों ओर के सभी व्यक्तियों से यह चाहते हैं कि वे वास्तव में जैसे हैं वैसे न रह कर हम जैसा चाहते हैं वैसे बन जायें। हम अपने लिए एक आदर्श बना सकते हैं और उसे सब पर लागू करना चाह सकते हैं, परन्तु...। यह चीज़ मुझे टॉल्स्टॉय के पुत्र की याद दिलाती है जिससे मैं जापान में मिली थी। वह मनुष्यों में एकता लाने की आशा से सारे संसार की यात्रा कर रहा था। उसका उद्देश्य बहुत बढ़िया था, पर कार्य करने का ढंग उतना अच्छा नहीं था! वह अविचल गम्भीरता से कहता था कि यदि सब एक ही भाषा बोलें, एक-सा पहनावा पहनें, एक-सा खान-पान रखें, एक-सा आचरण करें तो यह चीज़ ज़बरदस्ती एकता ले आयेगी! यह पूछे जाने पर कि इस विचार को कार्यान्वित करने के बारे में उसने क्या सोचा है, उसने कहा, इसके लिए एक देश से दूसरे देश में जाना तथा वहाँ पर नयी, पर सार्वभौम भाषा का, एक नये, पर सार्वभौम पहरावे का, नयी, पर सार्वभौम आदतों का प्रचार करना काफ़ी होगा। बस इतना ही। और यही चीज़ थी जिसे वह करना चाह रहा था!

(हँसते हुए) वस्तुतः, प्रत्येक व्यक्ति अपने छोटे-से क्षेत्र में ऐसा ही है। उसका अपना एक आदर्श होता है, अपनी एक धारणा होती है कि क्या सत्य है, क्या सुन्दर है और श्रेष्ठ है, यहाँ तक कि क्या दिव्य है और अपनी इस धारणा को वह दूसरों पर लादना चाहता है। बहुत-से ऐसे लोग भी हैं जिनकी भगवान् के बारे में अपनी विशेष धारणा है और वे उसे अपनी

पूरी शक्ति के साथ भगवान् पर थोपना चाहते हैं... और सामान्यतया तब तक हार नहीं मानते जब तक जीवन ही न छूट जाये!

इस वाक्य को लिखते हुए मेरा ध्यान इसी सहज और प्रायः अचेतन मनोभाव की ओर था। क्योंकि यदि मैं तुममें से किसी से कहूँ: "देखो! तुम भी यही चीज़ करना चाहते हो", तो तुम तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहोगे: "नहीं! अपने जीवन में कभी नहीं!" परन्तु जब तुम लोगों के बारे में सम्मति बनाते हो, विशेषतः उनके जीवन के तौर-तरीक़ों के बारे में अपनी प्रतिक्रिया करते हो तो यह इसीलिए होता है कि तुम उन्हें इस बात का दोष देते हो कि वे वैसे नहीं हैं जैसे तुम्हारे मतानुसार उन्हें होना चाहिये। यदि हम यह कभी न भूलें कि विश्व में कोई दो वस्तुएँ ठीक एक जैसी नहीं हो सकतीं और न होनी ही चाहियें, क्योंकि, तब दूसरी वस्तु व्यर्थ हो जायेगी क्योंकि उस जैसी एक पहले से ही मौजूद है और यह कि विश्व का निर्माण ऐसी अनन्तविध अनेकरूपताओं में समस्वरता लाने के लिए हुआ है जिसमें कोई भी दो गतियाँ—बल्कि यहाँ तक कि कोई भी दो चेतनाएँ—कभी एक समान नहीं हो सकतीं, तो भला हम किस अधिकार से दख़ल दे सकते और चाह सकते हैं कि कोई व्यक्ति हमारे अपने विचारों के अनुरूप बने?... क्योंकि यदि तुम एक विशेष ढंग से सोचते हो तो अवश्य ही दूसरा ठीक उसी ढंग से नहीं सोच सकता। और यदि तुम एक विशेष प्रकार के व्यक्ति हो तो यह बिलकुल निश्चित है कि दूसरा ठीक उसी नमूने का नहीं हो सकता। अतः जो चीज़ तुम्हें सीखनी चाहिये वह यह है कि विश्व की विभिन्न वस्तुओं में, प्रत्येक को उसके अपने स्थान पर रख कर संगति, समन्वय और मेल ला सको। सम्पूर्ण समस्वरता सम्पूर्णतया एकरूप हो जाने में बिलकुल नहीं है, बल्कि समस्वरता स्थापित करने में है जो प्रत्येक वस्तु को उसके अपने स्थान पर रखने से ही आ सकती है।

हमें अपने मित्र से जिस प्रतिक्रिया की आशा करने का अधिकार है उसके मूल में यही चीज़ होनी चाहिये कि वह यह इच्छा न करे कि उसका मित्र उसी के जैसा बने, बल्कि वह चाहे कि मित्र वही बने जो कि वह सचमुच है।

तो, वाक्य के शुरू में मैंने कहा है: "वह तुम्हारी सत्ता के सर्वश्रेष्ठ भाग में तुमसे प्रेम करता है...।" इसे ज़रा अधिक साफ़ शब्दों में कहें

तो तुम्हारा मित्र वह नहीं है जो तुम्हें तुम्हारे नीचे-से-नीचे स्तर पर आने, अपने साथ-साथ तुम्हें भी मूर्खताभरे काम करने और बुरी बातें करने के लिए उत्साहित करता है या जो तुम्हारे बुरे कामों की सराहना करता है, यह बिलकुल स्पष्ट है। और फिर भी, आमतौर से, बहुत-बहुत बार और प्रायः ही तुम किसी ऐसे व्यक्ति से मित्रता करते हो जिसके साथ तुम अपनी गिरी हुई अवस्था में कोई संकोच या बेचैनी नहीं महसूस करते। तुम उसे ही अपना सबसे अच्छा मित्र समझते हो जो तुम्हारी मूर्खताओं में तुम्हें उत्साहित करता है : उनसे मेल-जोल बढ़ाते हो जो स्कूल जाने के बदले इधर-उधर भटकते फिरते हैं, बग़ीचों में फल चुराने के लिए भाग जाते हैं, अपने अध्यापकों का मज़ाक उड़ाते हैं और इसी तरह की सब चीज़ें करते हैं। मैं किसी पर व्यक्तिगत रूप से आक्षेप नहीं कर रही हूँ, पर मैं ऐसे उदाहरण अवश्य दे सकती हूँ और खेद है कि उनकी संख्या बहुत अधिक है। सम्भवतः इसी कारण मैंने कहा है : "ये तुम्हारे सच्चे मित्र नहीं हैं।" परन्तु फिर भी, ये सबसे बढ़ कर सुविधाजनक होते हैं क्योंकि ये तुम्हें यह अनुभव नहीं होने देते कि तुम ग़लती पर हो; इसके विपरीत, जो व्यक्ति तुमसे आकर कहता है : "देखो, क्या तुम्हें नहीं लगता कि इधर-उधर निठल्ले फिरने और मूर्खताएँ करने के बदले कक्षा में चलना ज़्यादा अच्छा होगा!" ऐसे को सामान्यतया यही उत्तर मिलता है : "मुझे तंग न करो! तुम मेरे मित्र नहीं हो।" सम्भवतः इसी कारण मैंने यह वाक्य लिखा था। मैं फिर कहती हूँ कि मैं व्यक्तिगत रूप से किसी पर आक्षेप नहीं कर रही हूँ, फिर भी, यह तुम्हें एक ऐसी बात बताने का उपयुक्त अवसर है जो दुर्भाग्यवश बहुत अधिक बार घटती है।

यहाँ कुछ बच्चे ऐसे हैं जो कभी बहुत होनहार थे, अपनी कक्षा में प्रथम आते थे, गम्भीरतापूर्वक काम करते थे, जिनसे मुझे बड़ी आशाएँ थीं, पर जो इस प्रकार की मित्रताओं से पूरी तरह बिगड़ गये हैं। और चूँकि बात चल पड़ी है अतः मैं आज उनसे कहती हूँ कि मुझे इसका बड़ा खेद है। और ऐसे साथियों को मैं मित्र नहीं, जानी दुश्मन कहती हूँ; इनसे ऐसे ही बचना चाहिये जैसे संक्रामक रोगों से बचा जाता है।

हम छूत के रोगी का संसर्ग पसन्द नहीं करते, बल्कि सावधानी के साथ उससे बचते हैं; सामान्यतया ऐसे व्यक्ति को पृथक् रखा जाता है जिससे वह

रोग फैलने न पाये। परन्तु बुरे कार्य की और बुरे व्यवहार की छूत, दुराचार, मिथ्यात्व और जो कुछ निकृष्ट है उस सबकी छूत किसी भी बीमारी की छूत से बहुत अधिक भयंकर होती है और इससे बड़ी सावधानी से बचने की ज़रूरत है। तुम्हें अपना सबसे अच्छा मित्र उसे मानना चाहिये जो तुमसे कहता है कि मैं किसी बुरे या घिनौने कार्य में भाग नहीं लेना चाहता, जो तुम्हारे अन्दर निम्न प्रलोभनों का सामना करने का साहस प्रदान करता है; ऐसा व्यक्ति ही सच्चा मित्र है। ऐसे व्यक्ति से ही मेल-जोल रखना चाहिये, न कि उससे जो तुम्हारे साथ थोड़ा हँस-खेल ले और तुम्हारी बुरी प्रवृत्तियों को सबल बनाये। बस इतना ही।

अब मैं अधिक विस्तार में नहीं जाना चाहती और आशा करती हूँ कि मैंने जो कहा है उसे वे समझ गये होंगे जो मेरे मन में हैं।

वस्तुतः, तुम्हें केवल उन्हीं व्यक्तियों को अपने मित्र के रूप में चुनना चाहिये जो तुमसे अधिक बुद्धिमान् हों, जिनकी संगति तुम्हें ऊँचा उठाये, अपने पर विजय पाने, प्रगति करने, अधिक अच्छा करने और स्पष्टतर रूप से देखने में सहायता करे। और अन्त में सबसे अच्छा मित्र जो तुम्हें मिल सकता है, क्या वे भगवान् ही नहीं हैं जिनको तुम सब कुछ कह सकते हो, खोल कर रख सकते हो? क्योंकि निश्चय ही, सर्वकरुणा, सर्वशक्ति का स्रोत वहीं है, वे प्रत्येक भूल को, यदि उसे दोहराया न जाये तो, मिटा सकते हैं, सच्ची चरितार्थता का मार्ग खोल सकते हैं। वे ही हैं जो सब कुछ समझ सकते हैं, सब घावों को भर सकते हैं तथा पथ पर सदा सहायता कर सकते हैं; तुम हिम्मत न हार जाओ, लड़खड़ा न पड़ो, गिर न जाओ बल्कि लक्ष्य की ओर सीधे चलते जाओ इसमें तुम्हारी सहायता कर सकते हैं। वे ही सच्चे मित्र हैं, अच्छे और बुरे दिनों के साथी हैं। वे समझ सकते हैं, घावों को भर सकते हैं और जब तुम्हें उनकी ज़रूरत होती है वे सदा उपस्थित हो जाते हैं। जब तुम उन्हें सच्चाई से पुकारते हो तो वे सदा पथ-प्रदर्शन करने और सहारा देने और सबसे सच्चे रूप में प्रेम करने के लिए आ उपस्थित होते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ६०-६४

पुरुष और स्त्री के बीच मैत्री

निश्चय ही पुरुष-पुरुष अथवा नारी-नारी के बीच मैत्री रखना पुरुष और नारी के बीच मैत्री रखने की अपेक्षा अधिक आसान है, क्योंकि वैसी स्थिति में सामान्यतया काम-वासना की भावना का प्रवेश नहीं होता। पुरुष और नारी की मैत्री में किसी भी क्षण सूक्ष्म रूप में या सीधे तौर पर कामुक प्रवृत्ति आ सकती है और बेचैनी उत्पन्न कर सकती है। किन्तु पुरुष और नारी के बीच कामरहित पवित्र सम्बन्ध का होना असम्भव नहीं है; ऐसी मैत्री हो सकती है और सदैव होती रही है। एकमात्र आवश्यकता यह है कि निम्न प्राण चोर दरवाज़े से भीतर न झाँके या उसे प्रवेश न करने दिया जाये। पुरुष और नारी के स्वभाव में प्रायः एक सामञ्जस्य या आकर्षण या साम्य होता है जो किसी प्रकट या गुप्त निम्न-प्राणिक (यौन) आधार की अपेक्षा किसी अन्य आधार पर आश्रित होता है। कभी-कभी यह प्रबल रूप से मानसिक अथवा चैत्य अथवा उच्च-प्राणिक आधार और कभी-कभी इन तत्त्वों के मिश्रण पर निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में मित्रता स्वाभाविक होती है और दूसरे तत्त्वों के अन्दर आकर इसे विच्छिन्न करने या नीचे की ओर खींच लाने की सम्भावना कम होती है।

प्राणिक तथा चैत्य प्रेम

यह सोचना भी ग़लत है कि केवल प्राण-सत्ता में ही प्यार की गरमाहट है और चैत्य सत्ता ज्योति-शिखा से रहित कोई शीतल वस्तु है। सुस्पष्ट, स्वच्छ सद्भावना एक बहुत अच्छी और वाञ्छनीय वस्तु है। लेकिन वही चीज़ चैत्य प्रेम नहीं है। प्रेम तो प्रेम है, वह मात्र सद्भावना नहीं है। चैत्य प्रेम में प्राण की ही तरह अथवा उससे भी अधिक तीव्र गरमाहट और लौ हो सकती है। बस, यह एक विशुद्ध अग्नि है जो अहंजन्य कामनाओं की तुष्टि पर अथवा जिस ईंधन का वह आलिंगन करती है उसे स्वाहा कर जाने पर निर्भर नहीं करती। यह एक शुभ्र लौ है, न कि लाल। लेकिन शुभ्र लौ अपनी उष्णता में लाल की अपेक्षा हीनतर नहीं है। यह सच है कि चैत्य प्रेम मानवीय सम्बन्धों और मानवीय प्रकृति में सामान्यतया पूर्ण रूप से सक्रिय नहीं हो पाता; जब वह भगवान् की ओर उन्मुख किया जाता है तभी उसकी उमंग और उसका उल्लास अधिक आसानी से अपनी पूर्णता को प्राप्त होते हैं। मानवीय सम्बन्ध में चैत्य प्रेम के साथ ऐसे दूसरे तत्त्व

आ मिलते हैं जो तुरन्त उसका प्रयोग करने की चेष्टा करते हैं और उसे ढक देते हैं। वह अपनी पूर्ण प्रगाढ़ता और तीव्रता को बाहर प्रकट करने का अवसर केवल विरले क्षणों में ही पाता है। अन्यथा वह केवल एक तत्त्वांश रूप में प्रवेश करता है, किन्तु फिर भी मूलतः प्राणिक प्रेम में वही समस्त उच्चतर गुणों को प्रदान करता है। समस्त उत्कृष्ट मधुरता, कोमलता, निष्ठा, आत्मदान, आत्मत्याग, अन्तरात्मा का अन्तरात्मा तक पहुँचना, आदर्श रूप में विचारों का उन्नयन आदि जो गुण मानवीय प्रेम को स्वयं उसके परे उठा ले जाते हैं, चैत्य पुरुष से ही आते हैं। यदि वह अन्य तत्त्वों को—मानवीय प्रेम के मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक तत्त्वों को अधिकृत, शासित और रूपान्तरित कर सकता तो प्रेम पृथ्वी पर द्वैत जीवन के अन्दर यथार्थ वस्तु का, आत्मा और उसके उपकरण के पूर्ण एकत्व का कोई प्रतिबिम्ब या प्रस्तुति-रूप हो सकता। परन्तु उसके कुछ अपूर्ण रूप भी दुर्लभ हैं।

हमारी दृष्टि यह है कि योग में प्रकृति की सम्पूर्ण लौ के लिए साधारण बात है भगवान् की ओर मुड़ जाना और शेष चीज़ों को सच्चे आधार की प्रतीक्षा करनी चाहिये; साधारण चेतना की बालू और कीचड़ पर उच्चतर चीज़ों का निर्माण करना सुरक्षित नहीं है। पर इसीलिए मैत्री या संग-साथ का बहिष्कार करना आवश्यक नहीं है, किन्तु इन्हें पूर्णतया केन्द्रीय अग्नि के अधीन हो जाना चाहिये। यदि कोई इस बीच भगवान् के साथ के सम्बन्ध को ही अपना एकमात्र तल्लीनकारी लक्ष्य बना ले तो यह सर्वथा स्वाभाविक है और इससे साधना को पूरा-पूरा बल मिलता है। चैत्य प्रेम तब अपना पूर्णत्व प्राप्त करता है जब वह दिव्यतर चेतना की—जिसकी हम खोज कर रहे हैं—आभा बन जाता है। उससे पहले अपनी प्रकाशमयी पूर्ण सत्ता और स्वरूप को व्यक्त करना उसके लिए कठिन होता है।

पुनश्च : मन, प्राण और शरीर यथार्थतः अन्तरात्मा और आत्मा के यन्त्र हैं; जब वे केवल अपने लिए कार्य करते हैं तब वे अज्ञानमयी और अपूर्ण चीज़ें ही पैदा करते हैं—यदि वे चैत्य पुरुष और आत्मा के सचेतन यन्त्र बना दिये जायें तो वे अपनी दिव्यतर सार्थकता को प्राप्त कर लेते हैं। इस योग में हम जिस चीज़ को रूपान्तर कहते हैं उसमें यही भाव निहित है।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३१२-१४

मानव-प्रेम

अविश्वसनीय वस्तु

मानव-प्रेम स्पष्ट ही अविश्वसनीय है, क्योंकि यह बहुत अधिक स्वार्थपरता और कामना पर आधारित है; यह अहंभाव की एक लौ है जो कभी मलिन और कुहासाच्छन्न, कभी अधिक स्पष्ट और गहरे रंग से रँगा होता है—कभी सहज वृत्ति और आदत पर आधारित तामसिक, कभी राजसिक और हृदयावेग या प्राणिक आदान-प्रदान के लिए चीख-पुकार से पोषित होता है, कभी अधिक सात्त्विक होता तथा निष्काम होने या अपनी दृष्टि में वैसा प्रतीत होने का प्रयास करता है। परन्तु मूलतः यह किसी व्यक्तिगत आवश्यकता या किसी-न-किसी प्रकार की आन्तरिक या बाह्य अदला-बदली पर निर्भर करता है और जब वह आवश्यकता पूरी नहीं होती या अदला-बदली समाप्त हो जाती है या प्राप्त नहीं होती तो यह अधिकांश समय कम हो जाता या मर जाता या भूतकाल की आदत के केवल एक धीमे या विक्षुब्ध अवशेष के रूप में बना रहता है अथवा अपनी तृप्ति के लिए अन्यत्र मुड़ जाता है। यह जितना ही अधिक तीव्र होता है, उतना ही अधिक यह आशान्तियों, संघर्षों, कलहों, सभी प्रकार के अहंकारपूर्ण उपद्रवों, स्वार्थपरताओं, अवैध माँगों, यहाँ तक कि क्रोध और घृणा के विस्फोटों और मतभेदों के द्वारा विक्षुब्ध होने को बाध्य होता है। यह बात नहीं कि ये स्नेह टिक नहीं सकते—तामसिक सहजस्फूर्त स्नेह व्यक्तियों को पृथक् करने वाली प्रत्येक चीज़ के बावजूद अभ्यासवश टिके रहते हैं, जैसे, कुछ पारिवारिक स्नेह; कभी-कभी सारे उपद्रवों और असामञ्जस्यों और तीक्ष्ण मतभेदों के बावजूद राजसिक स्नेह टिक सकते हैं, क्योंकि एक को दूसरे की एक प्राणिक आवश्यकता होती है और उसके कारण वह चिपका रहता है अथवा दोनों को वह आवश्यकता होती है और वे निरन्तर अलग होते और वापस आते हैं, और फिर वापस आते और अलग हो जाते हैं या झगड़े से मेल की ओर और मेल से झगड़े की ओर जाते हैं; सात्त्विक स्नेह बहुधा कर्तव्य-बोध से लेकर आदर्शभावना तक के कारण या किसी दूसरे अवलम्ब के कारण टिकते हैं पर वे अपनी उत्सुकता या तीव्रता या तेजस्विता को खो सकते हैं। परन्तु उसमें सच्ची दृढ़ता केवल तभी आती

है जब मनुष्य-प्रेम में चैत्य तत्त्व इतना पर्याप्त प्रबल हो जाता है कि वह बाक़ी पर अपना रंग चढ़ा सके या उन पर प्राधान्य स्थापित कर सके। उस कारण से मित्रता अन्य सभी मानवीय स्नेहभावों की अपेक्षा बहुत अधिक बार अत्यन्त स्थायी होती है या हो सकती है, कारण, उस सम्बन्ध में प्राण का कम हस्तक्षेप होता है और यद्यपि वह अहं की एक लौ होती है, वह एक स्थिर और शुद्ध अग्नि बन सकती है जो सर्वदा अपनी ऊष्मा और ज्योति देती रहे। परन्तु विश्वसनीय मित्रता लगभग सर्वदा बहुत थोड़े से लोगों में ही होती है; स्नेहशील, निःस्वार्थ भाव से विश्वासपात्र मित्रों के एक झुण्ड का होना तो इतनी विरल बात है कि इसे निश्चित रूप में एक भ्रम माना जा सकता है...। बहरहाल, मानवीय स्नेह का चाहे जो भी मूल्य हो, इसका अपना एक स्थान है, क्योंकि इसके द्वारा चैत्य पुरुष को वे भावात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं जिनकी उसे तब तक आवश्यकता होती है जब तक वह प्रतीयमान वस्तु के स्थान में सच्ची, अपूर्ण के स्थान में पूर्ण, मानवीय के स्थान में दिव्य अनुभूतियों को सामने उपस्थित करने के लिए तैयार नहीं हो जाता। जिस तरह चेतना को उच्चतर स्तर पर ऊपर उठना है वैसे ही हृदय की क्रियाओं को भी उस उच्चतर स्तर तक ऊपर उठना होगा और अपने आधार और स्वभाव को बदलना होगा। योग का स्वरूप है—समस्त जीवन और चेतना को भगवान् में स्थापित करना, इसलिए प्रेम और स्नेह को भी भगवान् में बद्धमूल करना होगा और भगवान् के अन्दर प्राप्त आध्यात्मिक और चैत्य एकत्व उनका आधार होना चाहिये—अन्य सभी चीज़ों को एक ओर छोड़ कर सबसे पहले भगवान् को प्राप्त करना या एकमात्र भगवान् को पाने का प्रयत्न करना उस परिवर्तन का सीधा पथ है। इसका अर्थ है, किसी आसक्ति का न होना—आवश्यक रूप से इसका अर्थ यह नहीं है कि स्नेह को अस्नेह में या ठण्डी उदासीनता में बदल दिया जाये। परन्तु सम्भवतः 'अ' यह चाहता है कि उसके अपने प्राणिक भावावेग जैसे वे हैं—ज्यों के त्यों—भगवान् में ले लिये जायें—उसे कोशिश करने दो और आलोचनाओं तथा भाषणों के द्वारा उसे परेशान मत करो; यदि ऐसा किया जा सकता है तो उसे स्वयं अपने लिए इसका पता लगाना होगा।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३०४-०५

मानव-सम्बन्धों की सीमा

वास्तव में इसका कारण तुम्हारा स्वभाव या दुर्भाग्य नहीं है कि तुम्हारा प्राण दूसरों के साथ के सम्बन्धों से जो तुष्टि पाना चाहता था वह नहीं प्राप्त कर पाता। ये सम्बन्ध कभी पूरा या स्थायी सन्तोष नहीं दे सकते। यदि ये देते, तो फिर कोई कारण ही न होता कि मनुष्य कभी भगवान् को पाने का प्रयास करता। वह साधारण पार्थिव जीवन से ही सन्तुष्ट बना रहता। सच पूछा जाये तो जब भगवान् प्राप्त हो जाते हैं और चेतना सत्य-चेतना में ऊपर उठ जाती है केवल तभी दूसरों के साथ सच्चा सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

*

भगवान् का सामीप्य प्राप्त करने के लिए मानवीय स्नेह और सहानुभूति से रहित होने की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत, दूसरों से समीपता तथा एकता का बोध तो उस दिव्य चेतना का ही एक अंग है जिसमें साधक भगवान् की समीपता तथा भगवान् के साथ एकता का अनुभव करता है।...

दूसरी ओर, मानव समाज, मानवीय मैत्री, प्रेम, स्नेह और सहानुभूति का भाव—पूरी तरह से या निरपवाद रूप में तो नहीं, पर अधिकतर एवं साधारणतः—प्राणिक आधार पर स्थित होते हैं और उनके ठीक केन्द्र में होता है अहंकार। प्रायः, मनुष्य दूसरों से प्रेम करने में सुख अनुभव होने के कारण, दूसरों के सम्पर्क से तथा परस्पर आत्म-सत्ताओं के एक-दूसरे में व्याप्त होने से अहं का विस्तार होने में सुख अनुभव होने के कारण, और अपने व्यक्तित्व के परिपोषक प्राणिक आदान-प्रदान के उल्लास के कारण ही दूसरों से प्रेम करते हैं—इससे भिन्न तथा कहीं अधिक स्वार्थपूर्ण अन्य कारण भी होते हैं जो इस मुख्य गति में मिल-जुल जाते हैं। निस्सन्देह, उच्चतर आध्यात्मिक, आन्तरात्मिक, मानसिक, प्राणिक तत्त्व भी आ जाते हैं या आ सकते हैं; किन्तु सारी-की-सारी वस्तु, अपने सर्वोत्तम रूप में भी, बहुत अधिक मिश्रित होती है। इसीलिए एक विशेष अवस्था में, प्रत्यक्ष कारण से या उसके बिना, जगत्, जीवन, मानव समाज, मानवीय सम्बन्ध और परोपकार (जो अन्य सबके समान ही अहं-आक्रान्त होता है) फीके पड़ने लगते हैं।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३०५-०६, ३०१-०२

केवल एक ही सच्चा प्रेम है और वह है भागवत प्रेम; अन्य सभी प्रेम उस सच्चे प्रेम के ह्रास, सीमांकन और विकार हैं। भगवान् के लिए भक्त का प्रेम भी ह्रास और प्रायः अहंकार से रँगा रहता है। लेकिन जैसे तुम स्वाभाविक रूप से, जिससे प्रेम करते हो उसके जैसे बनने लगते हो, तो भक्त, अगर वह सच्चा और निष्कपट है तो वह जिस भगवान् की आराधना करता है उसी के जैसा होने लगता है और इस तरह उसका प्रेम शुद्ध और शुद्धतर होने लगता है। बहुत बार समाधान के रूप में यह सुझाव दिया जाता है कि तुम जिससे प्रेम करते हो उसी में भगवान् की आराधना करो; लेकिन जब तक तुम्हारा हृदय और तुम्हारे विचार बहुत शुद्ध न हों तब तक यह चीज़ शोचनीय अधोगति की ओर ले जा सकती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३३६

सामाजिक सम्बन्धों में कमज़ोरी

सामाजिक सम्बन्धों में एक बड़ी कमज़ोरी होती है, एक बहुत बड़ी कमज़ोरी; और इसीलिए, वास्तव में, व्यक्ति नाराज़ होता है, उसमें बह जाता है और ऐसी चीज़ें कहता है जो नहीं कहनी चाहियें।...

बेचैनी, उग्रता, क्रोध, ये सभी चीज़ें हमेशा, बिना अपवाद के, दुर्बलता की सूचक हैं। और विशेष रूप से, जब व्यक्ति अपनी भाषा में बह जाता है और ऐसी चीज़ें कहता है जो न कहनी चाहियें तो यह निश्चय ही भयंकर मानसिक दुर्बलता का चिह्न है—मानसिक और प्राणिक—भयंकर। अन्यथा, तुम दुनिया-भर की गाली-गलौज़ सुन सकते हो, लोग तुमसे सब तरह की बेवकूफ़ी-भरी बातें कह सकते हैं; अगर तुम कमज़ोर नहीं हो तो शायद तुम बाहर से न भी मुस्कुराओ, क्योंकि मुस्कुराना हमेशा सुरुचिपूर्ण नहीं होता, लेकिन अपने अन्दर की गहराई में तुम मुस्कुराते रहोगे और उसे गुज़र जाने दोगे, वह तुम्हें छू तक न पायेगी...। अगर तुम्हारे मन ने, जैसा यहाँ कहा गया है वैसा शान्त-स्थिर होने की आदत डाल ली है, और तुम्हें अपने अन्दर सत्य का बोध प्राप्त है, तो तुम कुछ भी सुन सकते हो। उससे स्पन्दन जैसी कोई भी चीज़ नहीं पैदा होती—तुम्हारे अन्दर सब कुछ अचञ्चल, स्थिर, शान्त रहता है। और तब अगर वह साक्षी वहाँ हो, जिसकी हम थोड़ी देर पहले बात कर रहे थे, और इस हास्यजनक स्थिति

को देख रहा हो तो वह निश्चय ही मुस्कुराता है।

लेकिन अगर तुम उस दूसरे व्यक्ति से आते हुए स्पन्दनों का अनुभव करो जो तुम्हारे अन्दर अपना समस्त क्रोध और उग्रता फेंक रहा है, अगर तुम उसे अनुभव करो... शुरू में ऐसा होता है... और फिर, तुम्हारे अन्दर से अचानक प्रत्युत्तर उठता है; और फिर, यदि तुम स्वयं क्रुद्ध हो उठते हो तो विश्वास रखो, तुम भी उसी की तरह कमज़ोर हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४२०-२१

मनुष्य की दूसरों के साथ अपने सम्बन्ध को शारीरिक, प्राणिक या मानसिक सम्पर्कों पर आधारित करने की आदत है, इसी कारण, वहाँ प्रायः सदा ही असामञ्जस्य और कष्ट रहता है। इसके विपरीत, यदि उन्होंने अपने सम्बन्धों को आन्तरात्मिक सम्पर्कों (आत्मा का आत्मा के साथ) पर आधारित किया होता तो वे देखते कि विक्षुब्ध बाह्य प्रतीतियों के पीछे, एक गहन और स्थायी समस्वरता विद्यमान है जो जीवन की सभी गतिविधियों में व्यक्त हो सकती है और इस समस्वरता के कारण ही यह अव्यवस्था और कष्ट शान्ति और आनन्द में परिवर्तित हो जायेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. २८४

मधुर माँ,

क्या हम दूसरों के दोष इस कारण नहीं सह पाते क्योंकि वे स्वयं हमारे अन्दर भी हैं? हमें जो धक्का लगता है उसका मूल क्या है?

हाँ, सामान्य रूप से तुम्हारे अन्दर जो दोष होते हैं वही तुम्हें औरों के अन्दर बहुत चौंकाने वाले लगते हैं।

बाद में, तुम्हारी समझ में आ जाता है कि और लोग ऐसा दर्पण हैं जो तुम जो कुछ हो उसे ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३३७

असामञ्जस्य का स्त्रोत

भावनाओं की असमानता

दूसरों के प्रति भावनाओं की असमानता, पसन्दगी और नापसन्दगी, मानवीय प्राण-प्रकृति में बसी हुई है। इसी कारण कुछ लोग अपने निजी प्राणिक स्वभाव के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हैं, दूसरे नहीं करते; फिर प्राणिक अहंकार भी है जो आघात पाने पर अथवा, जब उसकी अभिरुचियों या उसकी इस भावना के अनुसार कि लोगों को क्या करना चाहिये, कार्य नहीं होते या लोग कार्य नहीं करते तो, नाराज़ हो जाता है।

*

देखो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि झगड़ा करना, आघात पहुँचाना साधना का अंग नहीं हैं : जिन विरोधों और संघर्षों की तुम चर्चा कर रहे हो वे, ठीक जैसा कि बाहरी जगत् में होता है, प्राणिक अहंकार के संघर्षण हैं। वैर-विरोध, घृणा, नापसन्दगी, लड़ाई-झगड़े आदि को उसी तरह साधना का अंग नहीं कहा जा सकता जिस तरह कामावेग या काम-क्रियाओं को साधना का अंग नहीं कहा जा सकता। मेल-मिलाप, सद्भाव, सहिष्णुता, समता आदि साधक के साथ साधक के सम्बन्ध का आवश्यक आदर्श हैं। मनुष्य किसी के साथ मिलने-जुलने के लिए बाध्य नहीं है, पर यदि कोई अपने-आप में अलग रहता है तो ऐसा साधना के कारणों से ही होना चाहिये, अन्य उद्देश्यों से नहीं; और, यह किसी बड़प्पन की भावना या दूसरों के प्रति घृणाभाव के बिना होना चाहिये...। यदि कोई देखे कि किसी भी कारण से दूसरों के संग-साथ में रहने से उस (पुरुष या स्त्री) में अवाञ्छनीय प्राणिक वृत्तियाँ पैदा होती हैं तो वह (पुरुष या स्त्री) अवश्य ही उस संग-साथ से, सावधानी के लिए, तब तक अलग रह सकता है जब तक कि वह (पुरुष या स्त्री) इस कमज़ोरी को जीत नहीं लेता। परन्तु अलग रहने का दिखावा करना या सार्वजनिक रूप से आघात पहुँचाना आवश्यकताओं के अन्दर सम्मिलित नहीं है और भावनाओं को धोखा देने की आदत को भी उसी तरह जीतना चाहिये।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३१८, ३१९-२०

प्राणिक प्रतिक्रियाएँ

और लोग क्या कहते, सोचते या करते हैं उससे दुःखी होना हमेशा दुर्बलता का चिह्न और इस बात का प्रमाण है कि तुम्हारी सारी सत्ता ऐकान्तिक रूप से भगवान् की ओर मुड़ी हुई नहीं है, केवल भगवान् के प्रभाव में नहीं है। और तब प्रेम, सहिष्णुता, समझ, धैर्य से बना हुआ भागवत वातावरण लाने की जगह किसी और के अहंकार के उत्तर में तुम्हारा अहंकार अकड़ और आहत भावनाओं के साथ ज़ोर से उभर कर आता है और असामञ्जस्य बढ़ जाता है। अहंकार यह बात कभी नहीं समझ पाता कि भिन्न-भिन्न लोगों में भगवान् के काम करने के तरीक़े भिन्न-भिन्न होते हैं। और अपने अहंकार के दृष्टिकोण से औरों का मूल्यांकन करना बहुत बड़ी भूल है जो अस्तव्यस्तता को बढ़ाती ही रहती है। हम आवेग और असहिष्णुता के साथ जो कुछ करते हैं वह दिव्य नहीं हो सकता क्योंकि भगवान् केवल शान्ति और सामञ्जस्य में काम करते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३०७

कुछ लोगों का प्राण हमेशा अस्तव्यस्तता और असामञ्जस्य, छोटे-मोटे लड़ाई-झगड़ों और गड़बड़ों को पुकारता है। उनके अन्दर सामान्यतः उत्पीड़न का एक पागलपन भी होता है। वे समझते हैं कि हर एक उनके विरुद्ध है। इसे ठीक करना बहुत अधिक कठिन है और इसके लिए प्रकृति के आमूल परिवर्तन की आवश्यकता होती है।

ऐसे लोगों के साथ व्यवहार करते हुए सबसे अच्छा यह है कि प्रतिक्रियाओं की परवाह न करो और तुम्हें जो करना है वह सरलता और सच्चाई के साथ करते चलो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३४२-४३

लोगों की प्रतिक्रियाओं के बारे में चिन्ता न करो, वे चाहे जितनी अप्रिय क्यों न हों—प्राण सबमें है और हर एक में वह अशुद्धियों से भरा है और भौतिक अचेतना से भरा है। चाहे जितना समय क्यों न लगे इन दो अपूर्णताओं को दूर करना चाहिये और हमें इस पर धीरज और साहस के साथ लगे रहना चाहिये। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १४, पृ. ३०८

लड़ाई-झगड़े

यह कभी न भूलो कि मैं झगड़ों को पसन्द नहीं करती और दोनों ही पक्षों को समान रूप से ग़लत मानती हूँ। यहाँ अपनी भावनाओं, पसन्दों, नापसन्दों और आवेशों पर विजय पाना एक अनिवार्य अनुशासन है।

*

भले ही तुम झगड़े की पहल करने वाले न होओ फिर भी झगड़ा करना हमेशा ग़लत है।

*

जब तुम झगड़ा शुरू करते हो तो यह मानों भगवान् के कार्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना होता है।

*

हाँ, ये सब झगड़े बड़ी दुःखद बातें हैं—ये कार्य में भयंकर रूप से बाधा देते हैं और हर चीज़ को अधिक कठिन बना देते हैं।

*

दूसरों की भूलों पर क्रुद्ध होने से पहले तुम्हें अपनी भूलों को याद कर लेना चाहिये।

*

यह बात कि कोई अपने दोषों के लिए दुःखी है,—उन्हें ठीक करने के निश्चय को मज़बूत बनाने में सहायक हो सकती है, यदि वह चाहे तो।

लेकिन किसी के दुर्व्यवहार से नाराज़ होने या रूठने का सचमुच आध्यात्मिक जीवन और भगवान् की सेवा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २९०, २९१

संकीर्णता और पक्षपात

सारी मुश्किल इस बात से आती है कि तुम किसी के साथ तब तक सामञ्जस्य नहीं कर सकते जब तक कि वह तुम्हारे अपने विचारों के साथ सहमत न हो और उसकी राय और उसके काम करने का तरीक़ा तुम्हारे तरीक़े से मेल न खाता हो।

तुम्हें अपनी चेतना को विस्तृत करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि हर एक का अपना ही सिद्धान्त होता है। व्यक्तिगत इच्छाओं के सुखद

संयोजन में समझ और सामञ्जस्य की भूमि खोजना ज़रूरी है न कि यह कोशिश करना कि सभी की इच्छाएँ और कर्म एक जैसे हों।

*

उत्तरोत्तर सामञ्जस्य की स्थापना में जो मुख्य बाधाएँ हैं उनमें से एक है अपने विरोधी के आगे यह सिद्ध करने की आतुरता कि वह ग़लत है और हम ठीक हैं।

*

मनुष्यों में सबसे अधिक फैली हुई बीमारी है मानसिक संकीर्णता। लोग केवल वही समझते हैं जो उनकी अपनी चेतना में हो, वे किसी और चीज़ को नहीं सह सकते।

*

जो व्यक्ति केवल अपनी ही राय को मानता है, अधिकाधिक संकीर्ण होता जाता है।

*

हर समस्या के लिए एक ऐसा समाधान है जो हर एक को सन्तुष्ट कर सकता है लेकिन इस आदर्श समाधान को पाने के लिए हर एक को औरों के साथ मिल कर उन पर अपनी पसन्द लादने की इच्छा की बजाय उस समाधान को चाहना चाहिये।

अपनी चेतना का विस्तार करो और सबकी सन्तुष्टि के लिए अभीप्सा करो।

*

तुम केवल प्रश्न के अपने पक्ष को देखते हो। अगर तुम अपनी चेतना को विस्तृत करना चाहो तो ज़्यादा अच्छा होगा कि निष्पक्ष होकर सभी पहलुओं से देखो। बाद में तुम्हें पता चलेगा कि इस वृत्ति के बहुत लाभ हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २९५, २९६

दोष देखना और आलोचना करना

देखने और निरीक्षण करने में कोई हानि नहीं यदि सहानुभूति और निष्पक्षता के साथ वैसा किया जाये—सच पूछा जाये तो अनावश्यक रूप से टीका-टिप्पणी करने, दोष ढूँढ़ने, दूसरों को दोषी ठहराने (बहुधा बिलकुल

ग़लत रूप में) की प्रवृत्ति ही अपने और दूसरों के लिए बुरा वातावरण पैदा करती है। और भला यह कठोरता और सुनिश्चित दोषारोपण किसलिए? क्या प्रत्येक मनुष्य में अपने निजी दोष नहीं हैं—उसे भला दूसरों में दोष निकालने और उन्हें दण्ड देने के लिए इतना उत्सुक क्यों रहना चाहिये? कभी-कभी मनुष्य को विचार करना पड़ता है पर उसे जल्दबाज़ी में या दोष निकालने की भावना के साथ ऐसा नहीं करना चाहिये।

*

स्वयं अपने-आप उन्हीं दोषों से बचने में पटु होने की अपेक्षा कहीं अधिक मनुष्य दूसरों के कार्य की कटु आलोचना करने और उनसे यह कहने में समर्थ होता है कि कार्य कैसे करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। निःसन्देह, बहुत बार उन्हीं दोषों को मनुष्य दूसरों में अधिक आसानी से देख लेता है जो स्वयं उसमें होते हैं पर जिन्हें वह देखने में असमर्थ होता है। ये तथा अन्य दोष, जैसे दोषों की तुमने अन्त में चर्चा की है, मानव-स्वभाव के सामान्य दोष हैं और कुछ लोग ही इनसे बचते हैं। मानव-मन वास्तव में अपने विषय में सचेतन नहीं होता—यही कारण है कि योग में मनुष्य को सर्वदा यह खोजना और देखना होता है कि उसके अन्दर क्या है तथा अधिकाधिक सचेतन होना होता है।

*

सच पूछो तो प्रत्येक व्यक्ति का तुच्छ अहं ही दूसरों की "वास्तविक या अवास्तविक" त्रुटियों को खोजना और उनके विषय में बातचीत करना पसन्द करता है—और इससे कुछ नहीं आता-जाता कि वे वास्तविक हैं या अवास्तविक; अहं को उनके विषय में राय देने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि उसे सत्य दृष्टि या यथार्थ भाव नहीं प्राप्त है। वास्तव में एकमात्र शान्त, अनासक्त, धीर-स्थिर, सर्व-करुणामयी और सर्व-प्रेममयी आत्मा ही प्रत्येक सत्ता के बल और उसकी दुर्बलता को ठीक-ठीक देख सकती और उन पर विचार कर सकती है।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३२२, ३२३

स्वस्थ बनने का गभीरतर उपाय

यह जगत् संघर्ष, दुःख-दर्द, कठिनाइयों, तनावों का जगत् है; यह इन्हीं से बना है। यह अभी तक बदला नहीं है, बदलने में कुछ समय लगेगा। और हर एक के लिए बाहर निकलने की सम्भावना है। अगर तुम भागवत कृपा की उपस्थिति का सहारा लो, तो बाहर निकलने का यही **एकमात्र** उपाय है...

तुम्हारे काम के बारे में कुछ नहीं कहना है। तुम उसे बिलकुल अच्छी तरह से, ठीक जैसा करना चाहिये कर रहे हो; यह ठीक है। तुम्हारा काम बिलकुल ठीक है।...

मानव सराहना की आशा मत करो—क्योंकि मनुष्य, यह नहीं जानते कि किस आधार पर चीज़ों की सराहना की जाये, और इससे भी बढ़ कर, जब कोई ऐसी चीज़ होती है जो उनसे ज़्यादा ऊँची हो तो वे उसे पसन्द नहीं करते।

लेकिन यह बल मैं कहाँ से पाऊँ?

अपने अन्दर से। भागवत 'उपस्थिति' तुम्हारे अन्दर है। वह तुम्हारे अन्दर है। तुम उसे बाहर ढूँढ़ते हो; अन्दर देखो। वह तुम्हारे अन्दर है। भागवत 'उपस्थिति' वहाँ मौजूद है। तुम बल पाने के लिए औरों की प्रशंसा चाहते हो, वह तुम्हें कभी न मिलेगी। बल तुम्हारे अन्दर है। अगर तुम चाहो, तो उसकी अभीप्सा कर सकते हो जो तुम्हें परम लक्ष्य, परम प्रकाश, परम ज्ञान, परम प्रेम प्रतीत हो। लेकिन वह तुम्हारे अन्दर है—वरना तुम कभी उसके साथ सम्पर्क में न आ पाते। अगर तुम अपने अन्दर पर्याप्त गहरे जाओ तो वह अभीप्सा तुम्हें वहाँ एक ज्वाला की तरह मिलेगी जो हमेशा सीधी ऊपर की ओर जलती है।

और यह मत सोचो कि यह करना बहुत कठिन है। यह कठिन इसलिए है क्योंकि दृष्टि हमेशा बाहर की ओर मुड़ी होती है और तुम परम उपस्थिति का अनुभव नहीं करते। हर क्षण यह जानने के लिए कि क्या करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, बाहर सहारा ढूँढ़ने की जगह अगर तुम अन्दर, भागवत ज्ञान पर एकाग्र होओ और प्रार्थना करो, और अगर तुम

स्वयं जो कुछ हो उसे दे दो, जो कुछ करो पूर्णता पाने के लिए करो, तो तुम अनुभव करोगे कि सहारा मौजूद है, हमेशा पथ-प्रदर्शन कर रहा है, रास्ता दिखा रहा है। और अगर कोई समस्या आये तो उससे युद्ध करने की इच्छा के स्थान पर तुम उसे परम प्रज्ञा के हवाले कर दो कि वह सभी दुर्भावनाओं, सभी ग़लतफ़हमियों, सभी बुरी प्रतिक्रियाओं के प्रति जो उचित है वह कर ले। अगर तुम पूरी तरह से समर्पण कर दो तो फिर उसके साथ तुम्हारा सम्बन्ध नहीं रह जाता; वह परम प्रभु की चीज़ हो जाती है जो उसका भार ले लेते हैं, जो इसके सम्बन्ध में क्या करना चाहिये यह किसी भी व्यक्ति से ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं। यही एकमात्र तरीक़ा है, यही एकमात्र तरीक़ा है। तो, मेरे बच्चे।

एक चीज़ है कि मैं वहाँ जो कुछ करता हूँ, वह मेरे अपने लोगों को पसन्द नहीं आता है।

तुम्हारे अपने लोगों में सब कुछ का मिश्रण है, जैसा कि हर एक है।

... मैं कुछ भी अपने-आप नहीं करता... मेरे द्वारा जो कुछ किया जा रहा है वह मेरे द्वारा बिलकुल नहीं, किसी दिव्य शक्ति के द्वारा किया जा रहा है। और वह कार्य करवा लेती है, लेकिन फिर...

क्या! तुम आशा करते हो कि दुनिया यह समझे?

जी नहीं। वे न समझें, मैं इसके लिए कोई श्रेय नहीं चाहता, लेकिन, बाधाएँ और...

अगर तुम यह मानते हो कि मैं समझ रही हूँ और जानती हूँ, तो तुम्हें मेरा पूरा सहारा प्राप्त है। मैंने तुमसे कभी नहीं कहा कि तुम ग़लत चीज़ कर रहे हो, कहा है क्या? अब तुम्हें हमेशा के लिए यह समझ लेना चाहिये कि जब तक लोग सच्चे योगी न हों, अपने अहं से मुक्त न हों, भगवान् को पूरी तरह समर्पित न हों तब तक वे समझ नहीं सकते। भला कैसे समझ सकते हैं वे? वे केवल बाहरी आँखों और ज्ञान द्वारा देखते हैं; वे बाहरी चीज़ों और बाहरी रूप-रंग को देखते हैं। वे अन्दर की चीज़ को नहीं देखते। जब हम बाहर से यानी मनुष्यों से सराहना पाने की आशा छोड़

देते हैं तो हमारे पास शिकायत करने का कोई कारण नहीं रह जाता। वे सराहना करें तो उनके लिए बहुत अच्छा है। वे सराहना न करें तो कोई हर्ज़ नहीं। यह उनका निजी दृष्टिकोण है। हम उन्हें ख़ुश करने के लिए नहीं करते, हम चीज़ें इसलिए करते हैं क्योंकि हम यह अनुभव करते हैं कि इन्हें करना चाहिये।

मैंने कभी सराहना की आशा नहीं की, माताजी।

शायद चीज़ें तुम्हें यह स्थिति अपनाने के लिए बाधित करने को आ रही हैं—क्योंकि यही मुक्ति है, यही सच्ची मुक्ति है।

जी, अहंकार से नहीं कह रहा, बल्कि स्वभाव से ही मैं साधु हूँ। मुझे बिलकुल किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है।

यह ठीक है, लेकिन तुम्हें अपने परिवार की सराहना की आवश्यकता भी नहीं होनी चाहिये।

मेरी सभी असफलताओं और कमज़ोरियों के होते हुए, मुझे किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं, मुझे किसी तरह की सराहना की ज़रूरत नहीं है।

तब तुम दुःख नहीं पा सकते। क्योंकि एकमात्र वस्तु जिसकी तुम्हें आवश्यकता है वह है भागवत सहारा, और वह तुम्हें प्राप्त है। तब तुम्हें दुःख नहीं हो सकता।

लेकिन मैं बहुत अधिक दुःख झेल रहा हूँ।

हाँ, तुम्हारी सत्ता के अन्दर संघर्ष है। तुम्हारी चेतना का एक भाग जानता है, लेकिन फिर भी एक भाग है जो परिस्थितियों का दास है।

शायद यह सब तुम्हारे ऊपर परम और पूर्ण मुक्ति के लिए आ रहा है। और अगर तुम इसे भागवत कृपा की अभिव्यक्ति के रूप में लो तो तुम परिणाम देखोगे। ऐसी शान्ति, ऐसी शान्ति मिलेगी जिसे कुछ भी विचलित नहीं कर सकता, पूर्ण समचित्तता और ऐसा बल प्राप्त होगा जो

कभी धोखा नहीं देता।

(लम्बा मौन)

आज इसे नये जन्म के रूप में लो। नया जीवन जो शुरू हो रहा है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ४४२-४५

दुःख झेलना जानना

यदि किसी समय तुम्हें कोई गभीर दुःख, दारुण संशय या तीव्र कष्ट अभिभूत और हताश कर रहा हो तो शान्ति और स्थिरता पुनः प्राप्त करने का एक अचूक साधन है।

हमारी सत्ता की गहराइयों में एक ज्योति चमक रही है जो जितनी चमकदार है उतनी ही पवित्र भी। वह ज्योति विश्वव्यापी भगवान् का सजीव और सचेतन अंश है, वह जड़-तत्त्व को जीवन, पोषण और प्रकाश प्रदान करती है। वह उन लोगों की सशक्त और अचूक पथप्रदर्शिका है जो भगवान् का विधान जानने-मानने की इच्छा रखते हैं। जो उन्हें देखने की, उनकी आवाज़ सुनने की, उनके आदेश का पालन करने की अभीप्सा रखते हैं, यह आश्वासन और प्रेम से परिपूर्ण उनकी सहायिका है। उनके प्रति की गयी कोई भी सच्ची और स्थायी अभीप्सा व्यर्थ नहीं जा सकती; उन पर किया गया कोई भी दृढ़ और आदरपूर्ण विश्वास निराश नहीं हो सकता; कोई भी आशा भंग नहीं हो सकती।

मेरे हृदय ने भी दुःख झेला है और कातर पुकार की है, दुःख के भारी बोझ से टूटने-टूटने को होकर, अत्यधिक यन्त्रणा से दलित होकर...। पर, हे शान्तिदायक भगवान्, मैंने तुझे पुकारा, उत्कण्ठा से तुझसे प्रार्थना की और तेरी दीप्तिमान् ज्योति की प्रभा प्रकट हुई और उसने मुझे नवजीवन प्रदान किया।

जब तेरी महिमा की किरणों ने मेरे अन्दर प्रवेश कर मेरी सम्पूर्ण सत्ता को प्रकाशित कर दिया तो मैंने स्पष्ट देखा कि मुझे किस पथ पर चलना है और दुःख की क्या उपयोगिता हो सकती है; जिस दुःख ने मुझे निचोड़ डाला था वह इस पृथ्वी के दुःख, अतल वेदना और यातना की कितनी हलकी-सी परछाईं मात्र है, यह मैंने समझा।

जो स्वयं दुःख भोग चुके हैं केवल वे ही दूसरों का दर्द समझ सकते हैं, उसमें हिस्सा बँटा सकते हैं, और उसे हलका कर सकते हैं। और मैं यह भी समझ गयी हूँ, हे शान्तिदायक भगवान्, हे परम आत्म-त्यागी, कि हमारे सब कष्टों के बीच हमें सहारा देने के लिए, हमारे सारे दुःख और दर्द शान्त करने के लिए तूने पृथ्वी तथा मनुष्य के सकल दुःखों को, बिना किसी अपवाद के, जाना तथा अनुभव किया होगा।

पर फिर यह कैसी बात है कि जो तेरे पुजारी होने का दावा करते हैं, उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो तुझे यन्त्रणा देने वाला निर्दयी समझते हैं, तुझे ऐसा कठोर न्यायाधीश मानते हैं जिसने इन सब यन्त्रणाओं को स्वेच्छा से भले न रचा हो, पर जो इनका अनुमोदन तो करता ही है?

नहीं, मैं अब समझ रही हूँ कि ये सब कष्ट जड़-पदार्थ की अपूर्णता से आते हैं, जो अपनी अव्यवस्था और अपरिपक्वता के कारण तुझे अभिव्यक्त करने के अयोग्य है; और उससे सर्वप्रथम कष्ट भी तू ही पाता है, इससे असन्तुष्ट हो अपनी तीव्र उत्कण्ठा में तू ही सबसे पहले अव्यवस्था को व्यवस्था में, दुःख को सुख में, विरोध को सामञ्जस्य में परिवर्तित करने के लिए प्रयत्न और परिश्रम करता है।

कष्ट अनिवार्य नहीं है, वाञ्छनीय भी नहीं, पर जब वह आता है तो हमारे लिए कितना उपयोगी हो सकता है!

प्रत्येक बार जब दुःख के बोझ से हृदय टूटता प्रतीत होता है, तब अन्तर की गहराई में एक द्वार खुलता है और अधिकाधिक समृद्ध गुप्त रत्नराशि लिये नये-नये क्षितिज प्रकट होते हैं और उनकी स्वर्णिम आभा विनाश के कगार पर खड़े जीवन को एक नवीन और अधिक प्रखर जीवन प्रदान करती हुई आती है।

और जब, उत्तरोत्तर अवतरणों से होता हुआ मनुष्य उस यवनिका तक पहुँचता है जिसके उठते ही साक्षात् 'तू' प्रकट होता है, तब, 'हे प्रभु', कौन वर्णन कर सकता है 'जीवन' की उस प्रखरता का जो समस्त सत्ता के अन्दर पैठ जाती है, 'ज्योति' की उस शोभा का जो उसे परिप्लावित कर देती है, 'प्रेम' की उस महिमा का जो चिरकाल के लिए उसका रूपान्तर कर देती है!

१९१० **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड २, पृ. २३-२४

दुःख-दर्द—एक उत्तोलक

जेनेवा, ६ मार्च १९१४

उनके दुःख-दर्द से तीव्र रूप से पीड़ित होकर मैं तेरी ओर मुड़ी और उसका उपचार करने के लिए मैंने उस दिव्य प्रेम का कुछ भाग उँडेलने की कोशिश की जो समस्त शान्ति और सुख का उत्स है। हमें दुःख-दर्द से भागना न चाहिये और न ही उससे प्रेम करना या उसे बढ़ावा देना चाहिये। हमें सीखना चाहिये कि कैसे उसके अन्दर इतनी काफ़ी गहराई में जाया जाये कि उसे एक ऐसे बलशाली उत्तोलक में बदला जा सके जो हमारे लिए शाश्वत चेतना के द्वारों को खोल कर, तेरे अपरिवर्तनशील एकत्व की निरभ्रता में प्रवेश करा सके।

निश्चय ही शरीरों के पृथक् होने पर यह संवेदनशील और भौतिक आसक्ति, जो बिछुड़ने की पीड़ा पैदा करती है, एक दृष्टिकोण से बचकानी है जब हम अपने बाहरी रूपों की अस्थिरता और तेरे तात्त्विक एकत्व की वास्तविकता के बारे में सोचते हैं; लेकिन दूसरी ओर, क्या यह आसक्ति, यह व्यक्तिगत लगाव मनुष्यों के अन्दर—बाह्य रूप से जहाँ तक हो सके—उस आधारभूत एकता का अनुभव करने के लिए प्रयास नहीं है जिसकी ओर वे बिना जाने ही आगे बढ़ते रहते हैं? और ठीक उसी कारण बिछोह द्वारा लाया गया यह दुःख-दर्द, इस बाहरी चेतना का अतिक्रमण करने के लिए क्या बहुत अधिक प्रभावकारी साधनों में से एक नहीं है, इस बाहरी लगाव के स्थान पर तेरे शाश्वत एकत्व के सम्पूर्ण अनुभव को लाने का साधन नहीं है?

मैं उन सबके लिए यही चाहती थी; मैं उन सबके लिए तीव्रता के साथ इसी चीज़ की इच्छा करती थी और इसीलिए, तेरी विजय के बारे में आश्वस्त होकर, तेरी सफलता के बारे में निश्चित होकर मैंने उनके दुःख की बात तुझे बतलायी ताकि तू उसे आलोकित करके स्वस्थ कर सके।

प्रभो, वर दे कि स्नेह और कोमलता का यह समस्त सौन्दर्य महिमामय ज्ञान में रूपान्तरित हो जाये।

वर दे कि हर चीज़ में से सर्वोत्तम का आविर्भाव हो और तेरी सुखमयी शान्ति का समस्त पृथ्वी पर राज्य हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ५५-५६

सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक नया आधार

इस योग का सिद्धान्त

ऐसा लगता है कि इस योग के सिद्धान्त को तुम समझ नहीं पाये। पुराने योग ने पूर्ण त्याग की, यहाँ तक कि स्वयं जागतिक जीवन को भी छोड़ देने की माँग की थी। लेकिन, इस योग का लक्ष्य है, एक नया और रूपान्तरित जीवन प्राप्त करना। परन्तु उतनी ही कठोरता के साथ यह आग्रह करता है कि मन, प्राण और शरीर में से वासना और आसक्ति को पूरी तरह से निकाल फेंका जाये। इसका उद्देश्य है, जीवन को आत्मा के सत्य में पुनः प्रतिष्ठित करना और उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, हम जो कुछ हैं और मन, प्राण तथा शरीर से जो कुछ करते हैं उस सबके मूल को मन से ऊपर की एक महत्तर चेतना में उठा ले जाना। इसका अर्थ यह है कि उस नये जीवन में हमारे सभी सम्बन्ध एक आध्यात्मिक घनिष्ठता और एक ऐसे सत्य पर प्रतिष्ठित होने चाहियें जो हमारे वर्तमान सम्बन्धों को सहारा देने वाले किसी भी सत्य से एकदम भिन्न हो। जिन चीज़ों को लोग स्वाभाविक स्नेह-सम्बन्ध कहा करते हैं उन सबको भी उच्चतर पुकार आने पर त्याग देने के लिए हमें तैयार रहना चाहिये। अगर वे रखे भी जायें तो केवल एक परिवर्तन के साथ ही रखे जा सकते हैं जो उन्हें पूरी तरह से रूपान्तरित कर देगा। लेकिन, वे त्याग दिये जायेंगे अथवा रखे जायेंगे और परिवर्तित किये जायेंगे इसका निर्णय व्यक्तिगत कामनाओं के द्वारा कभी नहीं करना चाहिये बल्कि करना चाहिये ऊपर के सत्य के द्वारा। सब कुछ योग के परम प्रभु के हाथों में सौंप देना चाहिये।

*

सभी साधकों को एक-दूसरे से अलग रहना होगा तथा एक-दूसरे के विरुद्ध तलवार खींच रखनी होगी—यह अपने-आप में एक पूर्वनिर्धारित धारणा है जिसका त्याग करना ही होगा। यौगिक जीवन का विधान सामञ्जस्य है, संघर्ष नहीं।... और फिर, सभी सम्बन्ध प्राणगत आधार से उठ कर आध्यात्मिक आधार पर चले जाने चाहियें और प्राणगत आधार को केवल आध्यात्मिक आधार का एक रूप और यन्त्र बन जाना चाहिये—इस बात का अर्थ यह है कि साधकों के आपस में कोई भी सम्बन्ध क्यों न हों उनमें

से समस्त ईर्ष्या, कलह, घृणा, असन्तोष, विद्वेष तथा अन्य अशुभ प्राणगत भावों को निकाल फेंकना चाहिये, क्योंकि ये सब चीज़ें आध्यात्मिक जीवन का अंग नहीं बन सकतीं। इसी तरह समस्त अहंकारपूर्ण प्रेम और आसक्ति को भी दूर होना होगा—उस प्रेम को जो केवल अहंकार की तृप्ति के लिए ही प्रेम करता है, और, जैसे ही अहंकार आहत और असन्तुष्ट हो जाता है वैसे ही प्रेम करना बन्द कर देता है, यहाँ तक कि द्वेष और घृणा तक का पोषण करता है। सच पूछो तो प्रेम के पीछे एक सच्चा, सजीव और स्थायी एकत्व अवश्य रहना चाहिये। निःसन्देह, यह मानी हुई बात है कि काम-वासनामय अपवित्रता जैसी चीज़ें भी अवश्य दूर होनी चाहियें।

*

एक ऐसा भी प्रेम है जिसमें हृदयावेग बढ़ती हुई एकता तथा ग्रहणशीलता के साथ भगवान् की ओर मुड़ जाता है। जो कुछ वह भगवान् से प्राप्त करता है उसे वह दूसरों पर उँडेल देता है—पर उन्मुक्त होकर, और बदले में कुछ भी न चाहते हुए। यदि तुम ऐसा करने में समर्थ हो तो यही प्रेम करने का सर्वोत्तम और सर्वाधिक सन्तोषप्रद मार्ग है।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. २९९, ३००, ३११

मैत्री अथवा स्नेह

मैत्री अथवा स्नेह-सम्बन्ध का योग में बहिष्कार नहीं किया गया है। भगवान् के साथ मित्रता का होना तो साधना का एक स्वीकृत सम्बन्ध है। साधकों के बीच मित्रता का सम्बन्ध होता है और श्रीमाँ उसे प्रोत्साहित करती हैं। बस, हम चाहते यह हैं कि मित्रता के उन सम्बन्धों को उस आधार की अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़ आधार पर स्थापित किया जाये जिस पर मानवीय मैत्री-सम्बन्धों का अधिकांश भाग अस्थिर रूप से स्थापित होता है। यथार्थतः इस कारण कि हम मैत्री, बन्धुत्वभाव, प्रेम को पवित्र चीज़ें मानते हैं, इसलिए हम यह परिवर्तन चाहते हैं—कारण हम प्रत्येक क्षण अहंकार की क्रियाओं द्वारा इन्हें भंग होते हुए तथा वासनाओं, ईर्ष्या-द्वेषों, कपट के द्वारा, जिनकी ओर प्राण की प्रवृत्ति होती है, इन्हें अशुद्ध और नष्ट-भ्रष्ट होते हुए देखना नहीं चाहते—वास्तव में हम इन्हें सच्चे रूप में पवित्र और सुदृढ़ बनाना चाहते हैं और इसलिए इनकी जड़ अन्तरात्मा में

जमा देना, इन्हें भगवान् की आधार-शिला पर स्थापित करना चाहते हैं। हमारा योग कोई वैराग्यपूर्ण योग नहीं है; इसका लक्ष्य पवित्रता तो है, पर कठोर तपस्या नहीं है। मैत्री और प्रेम उस सुर-संगति के अनिवार्य स्वर हैं जिसे पाने की हम अभीप्सा करते हैं। यह कोई मिथ्या स्वप्न नहीं है, क्योंकि हमने देखा है कि अपूर्ण अवस्थाओं में भी, जब अनिवार्य तत्त्व का थोड़ा-सा अंश भी एकदम मूल में विद्यमान रहता है, तो यह चीज़ सम्भव होती है। यह कठिन है और पुरानी बाधाएँ अभी भी हठपूर्वक चिपकी हुई हैं न? परन्तु कोई भी विजय लक्ष्य के प्रति सुदृढ़ निष्ठा और दीर्घ प्रयास के बिना नहीं प्राप्त हो सकती। लगातार प्रयास करते रहने के सिवा और कोई उपाय नहीं है।

*

योग में मित्रता बनी रह सकती है, लेकिन आसक्ति को अथवा किसी ऐसे तल्लीनकारी स्नेह-सम्बन्ध को अवश्य दूर कर देना चाहिये जो मनुष्य को साधारण जीवन और चेतना के साथ बाँध रखे।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३१४, ३१५

प्रेम का अर्थ ही है देना

जब तुम अपना प्रेम किसी और मनुष्य को देते हो तो सामान्यतः पहली भूल यह होती है कि तुम उस व्यक्ति से भी प्रेम चाहते हो, उसके तरीक़े और उसके स्वभाव के अनुसार नहीं, बल्कि अपने ही तरीक़े और अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए। समस्त मानव दुःखों, निराशाओं और कष्टों का सबसे पहला कारण यही है।

प्रेम करने का अर्थ है, अपने-आपको मोल-भाव किये बिना देना—अन्यथा वह प्रेम नहीं होता। लेकिन इसे विरले ही समझ सकते हैं और उनमें भी विरले ही व्यवहार में ला सकते हैं और परिणाम दुःखद होते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ४८१

आत्म-संयम सबसे पहली आवश्यक चीज़ है और उसमें भी अपनी वाणी का संयम। अगर लोग चुप रहना सीख लें तो कितनी कठिनाइयों से बचा जा सकता है!

*

इतनी सारी चीज़ें व्यर्थ में बोली जाती हैं जो ग़लतफ़हमियाँ और दुर्भावनाएँ लाती हैं। मौन के द्वारा उनसे बचा जा सकता था।

अगर केवल वही शब्द बोले जाते जिनके बोलने की ज़रूरत है तो संसार बहुत नीरव स्थान होता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २२४

साधारणतया, दूसरों के अवगुण देखना अधिक आसान होता है। प्रत्येक मनुष्य में कोई-न-कोई दोष होता है जिसे अपनी अपेक्षा दूसरे लोग जल्दी पकड़ लेते हैं। परन्तु यदि हम दूसरों के प्रति कम-से-कम अन्याय करना चाहते हैं तो हमें उनके सर्वोत्तम गुण ही देखने का प्रयत्न करना चाहिये। एक उक्ति है : "यदि तुम्हारा मित्र काना है तो उसके मुँह के अच्छे पक्ष को देखो।"

तुम्हारा जो सहपाठी तुम्हें फूहड़ और सुस्त प्रतीत होता है वही कक्षा में सबसे अधिक परिश्रमी छात्र भी हो सकता है।

तुम्हारा जो अध्यापक तुम्हें अनुशासनप्रिय और कठोर मालूम होता है वही, सम्भव है तुमसे अधिक प्रेम करता हो और केवल तुम्हारी उन्नति की ही इच्छा करता हो।

वह मित्र जो तुम्हें कभी दुःखदायी अथवा गँवार प्रतीत होता है तुम्हारा सबसे अधिक हितैषी हो सकता है।

कई ऐसे व्यक्ति होते है जिन्हें हम नीची नज़रों से देखते और उनके साथ कठोर व्यवहार करते हैं। उनके अन्तरतम में भी कोई-न-कोई ऐसा गुण होता है जिसे हम देख नहीं पाते।...

ऐसा कोई भी लकड़ी का तख़्ता न होगा—चाहे वह कितना भी सड़ा-गला क्यों न हो—जिसमें एक कुशल मिस्त्री कुछ रेशे ठीक अवस्था में न देख सके। एक फूहड़ कारीगर अज्ञान और घृणावश उसे फेंक देगा, पर एक प्रवीण बढ़ई उसे उठा कर रख लेगा और जो हिस्सा सड़ गया है उसे निकाल कर बाक़ी को होशियारी से रन्दा फेर कर साफ़ कर लेगा। वृक्षों की कठोर गाँठें मूर्ति बनाने वाले कलाकार के बड़े काम आती हैं, क्योंकि उन्हीं में वह छोटे-छोटे अत्यन्त चित्ताकर्षक चित्र उकेर सकता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. २५५-५७

सहानुभूति तथा दूसरों की मदद करना

बिना हिचकिचाये मन और हृदय दोनों में दूसरे का मंगल चाहना ही सर्वोत्तम सहायता है जो मनुष्य दूसरे को दे सकता है।

*

तुमने भगवान् के हाथों में जो कुछ या जिस किसी को सौंप दिया है, उस वस्तु या मनुष्य के लिए अब न तो तुम्हारे अन्दर कोई आसक्ति होनी चाहिये और न ही दुश्चिन्ता, बल्कि तुम्हें सब कुछ भगवान् पर छोड़ देना चाहिये ताकि जो सर्वोत्तम हो उसे ही वे करें।

*

यह बहुत अच्छा है कि जिस अवस्था का तुम वर्णन कर रहे हो वह स्थापित हो गयी है—यह एक बड़ी प्रगति है। जहाँ तक प्रार्थनाओं की बात है, प्रार्थना करने का कार्य और जो मनोभाव वह ले आती है, विशेषकर दूसरों के लिए की गयी निःस्वार्थ प्रार्थना का कार्य, स्वयं तुम्हें उच्चतर दिव्य शक्ति की ओर खोल देता है, यद्यपि जिसके लिए प्रार्थना की जाती है उस व्यक्ति में कोई तदनुसार परिणाम नहीं भी दिखायी देता। इसके विषय में कोई भी सुनिश्चित बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि परिणाम आवश्यक रूप से उन व्यक्तियों पर निर्भर करता है, इस बात पर निर्भर करता है कि वे खुले हुए हैं या नहीं अथवा ग्रहणशील हैं या नहीं अथवा उनके अन्दर की कोई वस्तु प्रार्थना द्वारा उतारी गयी किसी शक्ति को प्रत्युत्तर दे सकती है या नहीं।

'श्रीअरविन्द के पत्र' भाग (२), पृ. ३२७-२८

सचमुच प्रेम करना

माँ, वह किस प्रकार का प्रेम है जो कहता है: "तुम मुझसे प्यार करो तो मैं भी तुमसे प्यार करूँगा"?

अगर तुम मुझसे प्यार करते हो तो मैं भी तुमसे प्यार करूँगा? मनुष्य ठीक इसी तरह बोलते हैं: "अगर तुम मुझसे प्यार करते हो तो मैं तुमसे प्यार करता हूँ, अगर तुम मुझसे प्यार नहीं करते तो मैं भी तुमसे प्यार नहीं करता।" प्रेम की पहली मानव अभिव्यक्ति बस यही है और यह और भी

आगे जाती है, वे इसे भगवान् के साथ सम्बन्ध पर भी लागू करते हैं। वे भगवान् से कहते हैं : "अगर तुम वही करो जो मैं चाहता हूँ तो मैं कहूँगा कि तुम मुझसे प्यार करते हो और मैं भी तुमसे प्यार करूँगा। लेकिन अगर तुम वह न करो जो मैं चाहता हूँ तो मैं बिलकुल न मानूँगा कि तुम मुझसे प्रेम करते हो और मैं भी, निश्चय ही, तुमसे प्रेम न करूँगा।"

बस चीज़ें ऐसी ही हैं। इसका मतलब यह है कि यह व्यापार बन जाता है।

लेकिन "तुम भले मुझसे प्यार न करो, मैं तुमसे प्यार करूँगा"?

यह ज़्यादा अच्छा होने लगता है।

और जो इससे भी अच्छा है वह यह है कि अपने-आपसे यह न पूछो कि तुम्हें प्यार मिल रहा है या नहीं, तुम उसके बारे में बिलकुल उदासीन रहो। और तब सच्चे प्रेम का आरम्भ होता है : तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार करते हो, इसलिए बिलकुल नहीं कि तुम्हें अपने प्यार का उत्तर मिलता है या दूसरा व्यक्ति भी तुमसे प्यार करता है। ये सब शर्तें—प्रेम नहीं हैं। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार के अलावा कुछ कर ही नहीं सकते। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार करते हो। तुम इसकी बिलकुल परवाह नहीं करते कि क्या होगा, तुम अपने प्रेम की भावना से ही पूरी तरह सन्तुष्ट रहते हो। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार करते हो।

बाक़ी सब सौदेबाज़ी है, प्रेम नहीं।...

मैं तुमसे कहती हूँ, जब तक मन में या भावों में या संवेदनों में हिसाब-किताब रहता है, जब तक कोई हिसाब-किताब रहता है, कम या ज़्यादा स्वीकृत हिसाब-किताब, तब तक यह प्रेम नहीं, सौदेबाज़ी है।

तुम नहीं समझ पाते?... मैं आशा करती हूँ कि एक दिन समझ पाओगे!

बाक़ी सब कुछ ठीक वही है जो लोगों ने प्रेम का बना दिया है। इसके अतिरिक्त यह बहुत सुन्दर नहीं है और यह ऐसी बहुत-सी चीज़ों की ओर ले जाता है जो और भी कम सुन्दर हैं, जैसे द्वेष या ईर्ष्या और उग्र प्रकृति के लोगों में तो बात घृणा तक जा पहुँचती है। छोटा-सा आरम्भ यूँ होता है :

यह आवश्यकता कि जब तुम प्यार करते हो, तो जिससे या जिस व्यक्ति से तुम प्यार करते हो उसे यह पता होना चाहिये कि उसे प्यार किया जा रहा है। लेकिन भगवान् के सम्बन्ध में, तुम भगवान् से प्यार तो करते हो पर तुम्हारा आग्रह होता है कि भगवान् को यह मालूम हो कि तुम उनसे प्यार करते हो! पतन का यही आरम्भ है। सच्ची चीज़ के बारे में तुम सोचते तक नहीं, वह मन को ज़रा भी छूती तक नहीं।

तुम सोचते नहीं : प्यार करते हो, बस। तुम प्यार करते हो और प्रेम की प्रचुरता में रहते हो, प्रेम के तीव्र आनन्द में रहते हो और फिर, बस यही।

जिसे लोग "प्रेम" कहते हैं उससे यह सच्चा प्रेम बहुत, बहुत, बहुत दूर है—एक लम्बा रास्ता।

मैं यहाँ उन सब घिनौने रूपों की बात नहीं कर रही जो वह साधारण मानव-चेतना में धारण करता है। मैं सबसे अच्छी अवस्थाओं की बात कह रही हूँ, अपने सर्वोत्तम रूप में सबसे अधिक निष्काम प्रेम की बात कर रही हूँ। मैं नहीं जानती, अगर तुम मनुष्यों से पूछो तो मैं उन लोगों का प्रतिशत ज़रूर जानना चाहूँगी जो परस्पर-विनिमय की भी परवाह नहीं करते। केवल प्यार। वे नहीं जो कहते हैं : "अगर तुम मुझसे प्यार करो तो मैं तुमसे प्यार करूँगा", वास्तव में वह तो सीढ़ी के बिलकुल नीचे का डण्डा है, एकदम तली में, लगभग गढ़े के अन्दर...। इससे भी एक निचला डण्डा है : "मेरे साथ प्यार करो, फिर मैं देखूँगा कि मैं तुमसे प्यार करूँ या नहीं।" यहाँ तुम्हें एकदम घृणित लोगों से काम पड़ता है। मैं केवल परस्पर-विनिमय की आवश्यकता की बात कर रही हूँ : यह उतरती हुई सीढ़ी में पहला डण्डा है।

फिर भी, एक दिन तुम यह समझ पाओगे। अभी तुम बहुत छोटे हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २६२-६४

मानव-प्रेम के बाहरी रूप को भेदना

यह कहा जाता है कि : "भागवत प्रेम के विषय में सचेतन होने के लिए अन्य समस्त प्रेम का त्याग कर देना पड़ता है।" अन्य प्रेम को, जो इतना हठपूर्वक हमसे चिपका रहता है (हँसी) और आसानी से हमें नहीं छोड़ता, त्याग देने का सर्वोत्तम उपाय क्या है?

इसमें से गुज़रना, आह! इसमें से गुज़रना, यह देखना कि उसके पीछे क्या है, बाह्य रूप पर ही ठहर न जाना, बाहरी रूप से ही सन्तुष्ट न हो जाना, उस तत्त्व की खोज करना जो इस प्रेम के पीछे विद्यमान है, और तब तक तृप्त न होना जब तक कि मनुष्य इस मनोभाव के स्वयं मूल को ही न पा जाये। फिर तो बाहरी रूप अपने-आप छिन्न-भिन्न हो जायेगा और तुम्हारा सम्पर्क भागवत प्रेम के साथ हो जायेगा जो समस्त वस्तुओं के पीछे विद्यमान है। **यही है सर्वोत्तम उपाय।**

दूसरे को पाने के लिए एक से छुटकारा पाने की इच्छा करना बहुत कठिन है। यह लगभग असम्भव है। क्योंकि मानव-प्रकृति इतनी सीमित, विरोधों से इतनी भरी हुई है और अपनी क्रियाओं में इतनी अनन्य है कि अगर कोई प्रेम को, उसके निम्नतर रूप, अर्थात् मानव-प्रेम को, जैसा कि लोग उसे अनुभव करते हैं, त्यागना चाहे, यदि उसे त्यागने का आन्तरिक प्रयत्न करे तो साधारणतः वह प्रेम को अनुभव करने की सारी क्षमता को ही खो बैठता है और पत्थर जैसा बन जाता है। और तब कभी-कभी अपने अन्दर प्रेम को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की क्षमता को फिर से जगाने के लिए उसे वर्षों या शताब्दियों प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

अतः, सर्वोत्तम पथ यह है कि जब प्रेम आये, चाहे जिस किसी रूप में वह आये, उसे भेदने की कोशिश की जाये और उसके बाह्य रूप को भेद कर उस दिव्य तत्त्व को खोजा जाये जो उसके पीछे है और जिसके कारण उसका अस्तित्व है। स्वाभाविक है कि यह मोहपाशों और कठिनाइयों से भरा हुआ है, पर यह है अधिक फलदायी। यानी, प्रेम करना बन्द करने के स्थान पर, चूँकि मनुष्य ग़लत रूप में प्रेम करता है, उसे ग़लत रूप में प्रेम करना बन्द करना होगा और अच्छे ढंग से प्रेम करने की इच्छा करनी होगी।

उदाहरणार्थ, मनुष्यों का आपसी प्रेम, अपने सभी रूपों में, अपने बच्चों के लिए माता-पिता का, माता-पिता के प्रति बच्चों का, भाइयों और बहनों का, मित्रों और प्रेमियों का प्रेम पूरी तरह अज्ञान, स्वार्थपरता और दूसरे दोषों से, जो मनुष्य की सामान्य कमियाँ हैं, दूषित होता है; अतएव, पूरी तरह प्रेम करना बन्द कर देने की जगह—जो, बहुत कठिन भी है, जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं, जो महज़ हृदय को सुखा देगा और उससे कोई लाभ भी नहीं होगा—हमें यह सीखना होगा कि किस प्रकार अधिक अच्छे

रूप में प्रेम किया जाता है : भक्ति के साथ, आत्म-दान, आत्म-त्याग के साथ प्रेम करना, और संघर्ष करना, स्वयं प्रेम के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके विकृत रूपों के विरुद्ध : स्वयं अपने लिए ही झपटने के विरुद्ध, आसक्ति, अधिकार, ईर्ष्या के सभी रूपों के विरुद्ध, और समस्त भावनाओं के विरुद्ध, जो इन मुख्य वस्तुओं के साथ लगी रहती हैं। अधिकार करने और आधिपत्य जमाने की कामना न करना; और अपनी इच्छा, अपनी सनकें और अपनी कामनाएँ लादने की चाह न करना; लेने की, पाने की इच्छा नहीं, बल्कि देने की इच्छा करना : दूसरे के प्रत्युत्तर पर आग्रह न करना, बल्कि अपने निजी प्रेम से ही सन्तुष्ट रहना; अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख की तथा अपनी व्यक्तिगत कामना की पूर्ति की चेष्टा न करना, बल्कि अपना प्रेम और स्नेह देने से ही तृप्त रहना; और प्रत्युत्तर की माँग न करना। मात्र प्रेम करने से ही प्रसन्न रहना, उससे अधिक कुछ नहीं।

यदि कोई ऐसा करे तो वह एक बहुत बड़ा क़दम आगे उठाता है और वह, इस मनोभाव के द्वारा धीरे-धीरे, स्वयं इस भावना के अन्दर ही और आगे बढ़ सकता है, और एक दिन यह अनुभव प्राप्त कर सकता है कि प्रेम कोई व्यक्तिगत वस्तु नहीं है; प्रेम एक विश्वव्यापी दिव्य भावना है जो तुम्हारे अन्दर कम या अधिक उत्तम तरीक़े से अभिव्यक्त होती है, पर जो अपने सार-तत्त्व में एक दिव्य वस्तु है।

पहला पग है स्वार्थी होना बन्द कर देना। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यही बात है, केवल उन लोगों के लिए ही नहीं जो योग करना चाहते हैं बल्कि उन लोगों के लिए भी जो साधारण जीवन जीते हैं : यदि कोई यह जानना चाहे कि कैसे प्रेम करना चाहिये तो उसे सबसे पहले अपने-आपसे प्रेम नहीं करना चाहिये, और सबसे बढ़ कर, स्वार्थपरता के साथ प्रेम नहीं करना चाहिये; बदले में कोई चीज़ ज़बरदस्ती वसूल किये बिना अपने प्रेमपात्र के प्रति अपने-आपको अर्पण कर देना चाहिये। यह अपने-आपसे ऊपर उठने के लिए और ऐसा जीवन यापन करने के लिए प्रारम्भिक साधना है जो पूरी तरह स्थूल नहीं है।

योग करने के लिए हम इसके साथ कुछ और जोड़ सकते हैं; वह है, जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा है, प्रेम के इस सीमित तथा मानवीय रूप को भेद कर उस दिव्य प्रेम के तत्त्व को खोज निकालने का संकल्प

जो इसके पीछे विद्यमान है। तब इसका परिणाम पाना सुनिश्चित हो जाता है। यह अपना हृदय सुखा देने की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है। यह सम्भवतः थोड़ा अधिक कठिन है पर प्रत्येक दृष्टि से यह अधिक अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार, अहंकारपूर्ण ढंग से दूसरों को तकलीफ़ पहुँचाने के बदले, हाँ, हम उन्हें उनकी गतिविधि में शान्त-स्थिर छोड़ सकते हैं और अपनी इच्छा दूसरों पर लादे बिना स्वयं अपने को रूपान्तरित करने का प्रयत्न कर सकते हैं, यह साधारण जीवन में भी किसी उच्चतर तथा कुछ अधिक सामञ्जस्यपूर्ण वस्तु की ओर एक पग आगे बढ़ाना है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३६१-६३

मानव तथा भागवत प्रेम

जब तुम भगवान् के साथ पूरी तरह, सच्चाई के साथ प्रेम करते हो तो तुम उनकी सृष्टि और उनके प्राणियों से भी प्रेम करते हो; और स्वभावतः उन प्राणियों में कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें तुम अपने ज़्यादा नज़दीक पाते हो और जिनसे तुम विशेष प्यार करते हो। लेकिन तब तुम जिस प्रेम का अनुभव करते हो वह सामान्य मानव प्रेम की तरह स्वार्थ-भरा नहीं होता, वह ऐसा प्रेम नहीं होता जो पकड़े रखना चाहता है या अधिकार करना चाहता है, बल्कि ऐसा प्रेम होता है जो बदले में कुछ माँगे बिना अपने-आपको देता है।

शान्त और सुखी जीवन के लिए प्रेम के आनन्द के लिए प्रेम करना सबसे अच्छी स्थिति है। दूसरे शब्दों में कहें तो सभी चीज़ों के अन्दर भगवान् से प्रेम करना।

अगर इसका चरम बिन्दु यह हो कि तुम वही चाहो जो भगवान् चाहते हैं, तो पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ४८२-८३

और फिर, यह जानी हुई बात है कि तुम जिससे प्रेम करते हो उसी के जैसे बनते जाते हो। अगर तुम भगवान् जैसा बनना चाहो तो तुम्हें केवल उन्हीं से प्रेम करना चाहिये। जिसने भगवान् के सायुज्य के आनन्द का अनुभव किया है वही जान सकता है कि बाक़ी सारा प्रेम उसकी तुलना

में कितना नीरस, मन्द और शक्तिहीन होता है और यदि इस सायुज्य को प्राप्त करने के लिए कठोरतम तपस्या की ज़रूरत पड़े तो भी कोई चीज़ अत्यन्त कठिन, अत्यन्त लम्बी या अत्यन्त कठोर नहीं है—बशर्ते कि वह तुम्हें वहाँ तक पहुँचा दे—क्योंकि यह सब प्रकार की अभिव्यक्ति से परे है।

हम धरती पर इस अद्‌भुत स्थिति को चरितार्थ करना चाहते हैं। यही धरती का रूपान्तर करके उसे भागवत उपस्थिति के योग्य आवास बनायेगी। तब सच्चा और विशुद्ध प्रेम एक ऐसे शरीर में अवतरित होगा जो उसके लिए आवरण या छद्मवेश न रहेगा। तपस्या को ज़्यादा सरल बनाने के लिए तथा ज़्यादा निकट और स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकने वाली घनिष्ठता उत्पन्न करने के लिए कितनी बार भगवान् ने प्रेम के सर्वोच्च रूप में एक ऐसा भौतिक शरीर ग्रहण करने की इच्छा की जो देखने में मनुष्य-शरीर के जैसा ही हो; लेकिन हर बार ही 'जड़-द्रव्य' के स्थूल रूप में बन्दी होने के कारण वे अपना एक विकृत चित्र ही व्यक्त कर सके। वे अपनी पूर्णता के वैभव में अपने-आपको तभी अभिव्यक्त कर सकेंगे जब मनुष्य अपनी चेतना और शरीर में कुछ अनिवार्य प्रगति कर लेंगे; क्योंकि मनुष्य का तुच्छता-भरा मिथ्याभिमान और उसका मूर्खतापूर्ण अहंभाव मानव-शरीर में अभिव्यक्त भव्य भागवत प्रेम को दुर्बलता, निर्भरता और आवश्यकता का चिह्न मान लेता है।...

चूँकि हमने यह निश्चय कर लिया है कि पूर्ण वैभवमय प्रेम को भगवान् के साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए सुरक्षित रखें, इसलिए औरों के साथ अपने सम्बन्ध में प्रेम की जगह एक पूर्ण, अपरिवर्तनशील, स्थायी और अहंकारशून्य शुभ कामना और सद्‌भावना रखेंगे जो बदले में किसी पुरस्कार, कृतज्ञता या मान्यता तक की भी आशा न करेगी। दूसरे तुम्हारे साथ चाहे जैसे व्यवहार करें, तुम अपने-आपको किसी मनोमालिन्य या नाराज़गी में न बहने दोगे; और भगवान् के प्रति अपने विशुद्ध प्रेम में तुम उन्हें ही इस बात के लिए एकमात्र निर्णायक बनाओगे कि वे दूसरों की ग़लतफ़हमी और दुर्भावना से तुम्हारी रक्षा कैसे करेंगे।

तुम अपने आनन्द या अपने सुख के लिए केवल भगवान् पर ही निर्भर रहोगे। केवल उन्हीं में सहायता और आश्रय खोजोगे और पाओगे। वे तुम्हें हर दुःख में आश्वासन देंगे, तुम्हें पथ पर चलायेंगे, तुम ठोकर खा जाओ तो

तुम्हें उठायेंगे और यदि असफलता और क्लान्ति की घड़ियाँ आयें तो तुम्हें अपनी प्रेम की सबल भुजाओं में लेकर अपनी सुखद मधुरिमा में समो लेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ७७-७८

दूसरों की तथा संसार की सहायता करना

औरों को पीड़ा पहुँचाना आध्यात्मिक सिद्धि को साधित करने के लिए अच्छा आधार नहीं है।

मार्ग पर अकेले बढ़ना अहंकार का एक रूप हो सकता है। अगर और लोग अनुसरण करने से इन्कार करें तो तुम केवल अपने-आपको मुक्त कर सकते हो। इसलिए पहले तुम्हें उन्हें अपने साथ ले चलने का प्रस्ताव रखना चाहिये, अगर इससे प्रगति बोझिल हो उठे और कठिनाइयाँ बढ़ जायें तो तुम्हें यह मानना चाहिये कि यह विशेष भागवत कृपा का प्रभाव है जो इस तरह से समर्पण की सच्चाई को परख रही है। भागवत सहायता ग्रहण करने की क्षमता इस सच्चाई के अनुपात में होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३०३

दूसरों के तथा भगवान् के प्रति कर्तव्य

भगवान् के प्रति कर्तव्य किसी सामाजिक या पारिवारिक कर्तव्य की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र है; अधिक पवित्र इसलिए क्योंकि मानव समुदाय में लगभग पूरी तरह इसकी अवहेलना होती है या इसे ग़लत समझा जाता है।

*

जिसने एक बार अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर दिया उसके लिए इसके सिवा कोई और कर्तव्य नहीं रहता कि वह अपने समर्पण को अधिकाधिक पूर्ण बनाये। संसार और उसमें रहने वाले मनुष्यों ने हमेशा मानव, अर्थात् सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्यों को भगवान् के प्रति कर्तव्य के पहले रखना चाहा है। उन्होंने भगवान् के प्रति कर्तव्य को अहंकार कह कर कलंकित किया है। वे दूसरी तरह से मूल्यांकन कर ही कैसे सकते थे जिन्हें भगवान् की वास्तविकता का कोई अनुभव नहीं है? लेकिन भगवान् की दृष्टि में उनकी राय का कोई मूल्य नहीं है, उनकी इच्छा में कोई शक्ति नहीं है। वे अज्ञान की गतिविधियाँ हैं, उससे बढ़ कर

कुछ नहीं। तुम्हें उन्हें विश्वास दिलाने की कोशिश न करनी चाहिये और सबसे बढ़ कर यह कि तुम्हें अपने-आपको प्रभावित होने या डिगने न देना चाहिये। तुम्हें अपने-आपको सावधानी के साथ समर्पण के एकान्त में बन्द कर लेना चाहिये और केवल भगवान् से ही सहायता, संरक्षण, पथ-प्रदर्शन और **समर्थन** की अपेक्षा रखनी चाहिये। जिसे मालूम हो कि उसे भगवान् की स्वीकृति और उनका समर्थन प्राप्त है उसे सारे संसार द्वारा निन्दित होने की परवाह नहीं होती।

इसके अतिरिक्त, क्या मानवजाति ने अपने अस्तित्व की व्यवस्था में अपनी पूर्ण अक्षमता प्रमाणित नहीं कर दी है? सरकारों के बाद सरकारें आती हैं, राज्यों के बाद राज्य बदलते हैं, सदियों पर सदियाँ बीतती जाती हैं परन्तु मानव दुर्दशा शोचनीय रूप में वह-की-वही बनी रहती है। जब तक मनुष्य जो है वह-का-वही बना रहेगा यानी अन्धा और अज्ञानी तथा समस्त आध्यात्मिक वास्तविकता के प्रति बन्द, तब तक यह दुर्दशा भी वैसी ही बनी रहेगी। रूपान्तर करके और मानव-चेतना को आलोकित करके ही मानवजाति की अवस्था में सच्चा सुधार लाया जा सकता है। अतः, मानव जीवन के दृष्टिकोण से भी यही तर्क-संगत ठहरता है कि मनुष्य का पहला कर्तव्य यह है कि वह दिव्य चेतना को खोजे और प्राप्त कर ले।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३१४-१५

भागवत प्रेम

जो लोग इस जगत् में भगवान् को प्रकट करने और पार्थिव जीवन को रूपान्तरित करने के लिए आये हैं उनमें से कुछ ने दिव्य प्रेम को अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया है। कुछ में तो इस अभिव्यक्ति की पवित्रता इतनी अधिक थी कि समस्त मानवजाति ने उन्हें ग़लत समझा। यहाँ तक कि उन पर कठोर और प्रेमशून्य होने का दोष लगाया गया है, यद्यपि उनमें दिव्य प्रेम विद्यमान है। परन्तु उनमें इसका रूप भी इसके तत्त्व की तरह मानव नहीं, दिव्य होता है। मनुष्य जब प्रेम की बात करता है तो वह इसे भावावेश और भावुकतापूर्ण दुर्बलता के साथ जोड़ देता है। परन्तु मनुष्य आत्म-विस्मृति की दिव्य प्रगाढ़ता से, बिना संकोच अपने लिए कुछ भी बचा कर रखे बिना, बदले में कुछ भी माँगे बिना, भेंट के तौर पर अपने-

आपको पूर्ण रूप से न्योछावर कर देने की शक्ति से अपरिचित-सा है। और जब यह भागवत प्रेम दुर्बल भावुकता-भरे भावावेशों के बिना, अपने सत्य स्वरूप में आता है तो लोग इसे निष्ठुर और निष्प्राण पाते हैं; वे इसमें प्रेम की उच्चतम और तीव्रतम शक्ति को नहीं पहचान पाते।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ८०

तुम्हें अभीप्सा और समर्पण की शुद्धता के साथ अपनी खोज का प्रारम्भ करना चाहिये जिन्हें प्राप्त करना पहले ही अपने-आपमें काफ़ी कठिन है। इस 'प्रेम' की अभीप्सा के लिए अपने-आपको **तैयार** करने के लिए ही तुम्हें अपने ऊपर बहुत कुछ कार्य करना होता है। यदि तुम बहुत सच्चाई के साथ, बहुत सीधे ढंग से अपने-आपको देखो तो पाओगे कि ज्यों ही तुम 'प्रेम' के विषय में सोचना आरम्भ करते हो, तो सर्वदा तुम्हारे अन्दर का तुच्छ विक्षोभ ही चक्कर काटना आरम्भ कर देता है। जो कुछ तुम्हारे अन्दर अभीप्सा करता है वह विशिष्ट स्पन्दनों को चाहता है। सच पूछो तो योग-मार्ग में बहुत आगे बढ़े बिना 'प्रेम' की अपनी धारणा से प्राणिक तत्त्व को, प्राणिक स्पन्दन को पृथक् करना लगभग असम्भव है। जो कुछ मैं कह रही हूँ वह मानव-प्राणियों के श्रमसाध्य अनुभव पर आधारित है। हाँ, पर तुम्हारे लिए, जिस स्थिति में तुम हो, जैसे कि तुम हो, तुम्हारा यदि विशुद्ध दिव्य 'प्रेम' के साथ सम्पर्क हो जाये तो वह तुम्हें बर्फ़ से भी अधिक ठण्डा प्रतीत होगा, अथवा इतनी अधिक दूर, इतना ऊँचा मालूम होगा कि तुम साँस लेने में भी असमर्थ होओगे; वह उस पर्वत-शृंग के जैसा होगा जहाँ तुम्हें ऐसा लगेगा मानों तुम जमे जा रहे हो और तुम्हें साँस लेने में भी कठिनाई होगी और जो कुछ तुम सामान्यतया अनुभव करते हो उससे वह कहीं दूर प्रतीत होगा। 'भागवत प्रेम', यदि चैत्य या प्राणिक स्पन्दन से आच्छादित न हो तो उसे अनुभव करना मनुष्य के लिए कठिन है। मनुष्य भगवत्कृपा की धारणा कर सकता है, उस कृपा की जो इतनी दूरस्थ, इतनी उच्च, इतनी निर्वैयक्तिक वस्तु है कि... हाँ, मनुष्य कृपा का अनुभव कर सकता है, पर वास्तव में कठिनाई के साथ ही कोई दिव्य 'प्रेम' को अनुभव करता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २९०-९१

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

मई

१. हर चीज़ को भगवान् को पाने का साधन बनाया जा सकता है। जिस चीज़ का महत्त्व है वह है वह भाव जिससे काम किया जाता है।

२. विजय सदा ही सुनिश्चित है—कठिनाई हो, फिर भी विजय में शंका मत करो। —श्रीअरविन्द

३. सरल और निष्ठावान् हृदय महान् वरदान है।

४. मेधावी मनुष्य को उत्साह, अप्रमाद, संयम द्वारा अपने लिए ऐसे द्वीप का निर्माण करना चाहिये जिसे कोई बाढ़ डुबा न पाये।

५. तुम्हें अपने बल पर नहीं, भागवत शक्ति पर श्रद्धा होनी चाहिये।

६. अचञ्चल मन तेज़ी या बुदबुदाहट के बिना चीज़ों को देखता है, न हड़बड़ी करता है, न ऊटपटाँग बातें ही सोचता है।

७. अपनी दुश्चिन्ता को घटाने का सबसे उत्तम साधन है—अच्छा काम करना, सच्चा होना, सरल होना और न्याय-परायण होना।

८. **सिर ठण्डा** रखो, **मज़बूत** और **बहुत शान्त स्नायु** रखो और भगवान् की कृपा पर **पूरा भरोसा** रखो।

९. अगर व्यक्ति भगवान् के समीप रहना चाहता है तो उसके जीवन पर पूर्ण सत्य का शासन होना चाहिये।

१०. भगवान् के चिन्तन का वैभव कितना शान्त, उदात्त और पवित्र होता है।

११. हमें जीतना है उस अज्ञान के प्रतिरोध को जो प्रकृति का रूपान्तर नहीं चाहता।

१२. प्रभो, मुझे मानसिक निष्कपटता प्रदान कर जो अपने साथ भौतिक शान्ति लाती है।

१३. हर एक अपने ऊपर अपने कर्मों के परिणामों को लाता है।
हर एक अपने-आप अपने दुःखों का शिल्पी होता है।

१४. चेतना किसी चीज़ के बारे में तादात्म्य द्वारा अभिज्ञ होने की क्षमता है। भागवत चेतना केवल अभिज्ञ ही नहीं होती बल्कि जानती और सम्पन्न करती है।

१५. श्रीअरविन्द कहते हैं कि मनुष्य जो कुछ सोचता है, उस चिन्तन के तथ्य के कारण ठीक वही बन सकता है।

१६. निम्न प्रकृति पर विजय किसी भी बाह्य सफलता की अपेक्षा अधिक गहरा और स्थायी आनन्द देती है।

१७. अपने-आपको धोखा देने की ज़रा-सी वृत्ति सफलता को असम्भव बना देती है।

१८. जब हम विचलित नहीं होते तभी उचित समय पर उचित ढंग से उचित काम कर पाते हैं।

१९. चैत्य हमेशा उपस्थित है, और मज़बूत है। कमज़ोर तो ग्रहणशीलता है।

२०. एक परम दिव्य चेतना है। हम इसी दिव्य चेतना को भौतिक जीवन में प्रकट करना चाहते हैं।

२१. मन करे तो रो लो, परन्तु चिन्ता न करो, वर्षा के बाद सूर्य ज़्यादा तेज़ी से चमकता है।

२२. ऐसी चेतनाएँ हैं जिन्हें दूषित नहीं किया जा सकता। वे जिस किसी वस्तु का स्पर्श करती हैं उसे प्रकाशित कर देती हैं।

२३. सबसे अच्छा है सत्य को अपने अन्दर पाना—तब हम परम सत्य को, वह जहाँ कहीं हो, पा सकते हैं। आशीर्वाद।

२४. मनुष्य जो मूर्खतापूर्ण चीज़ें कर सकता है उनमें सबसे बढ़ कर है, भगवान् से मुँह मोड़ लेना और भागवत कृपा को अस्वीकार कर देना।

२५. हर उस चीज़ को करने से इन्कार करो, वह चाहे कुछ क्यों न हो, जो तुम्हें भगवान् से दूर ले जाती हो।

२६. भूतकाल का उस फलक की तरह उपयोग करो जिससे तुम भविष्य में छलाँग मार सको।

२७. जब तक हम अतीत की आदतों और विश्वासों से पिण्ड नहीं छुड़ा लेते तब तक तेज़ी से आगे बढ़ने की बहुत आशा नहीं रहती।

२८. धन्य हैं वे जो भविष्य में छलाँग मारते हैं।

२९. पूर्णता कोई महत्तम या अन्तिम छोर की चीज़ नहीं है। यह सन्तुलन और समन्वय है।

३०. सच्ची आध्यात्मिकता जीवन को रूपान्तरित कर देती है।

३१. हे प्रभो, तेरी इच्छा पूरी हो। तू ही परम और पूर्ण सुरक्षा है।

श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार

(रवीन्द्रजी ने गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त करके श्रीअरविन्द के बड़े गुरुकुल में सन् १९३८ में २१ वर्ष की अवस्था में प्रवेश पाया था। २००१ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे यहीं के अन्तेवासी रहे।)

प.ले. का अर्थ है, पत्र-लेखक—सं.

माताजी,

आपने मुझे लिखा था कि आप रात को मेरे पास आया करती हैं। मैं भी आप तक पहुँचने की कोशिश करता हूँ... लेकिन हाय!

प्रयास किये चलो—एक दिन तुम सफल हो जाओगे। मैं अब भी आती हूँ।

आशीर्वाद। ९ नवम्बर १९६२

प.ले. बचपन में लेख, कहानी आदि लिखने का शौकीन था, उसमें लेखक बनने की महत्त्वाकांक्षा थी। आश्रम में आकर उसे जो-जो काम मिले उनका लेखन के साथ दूर का भी सम्बन्ध न था। बहुत वर्षों के बाद उसे 'पुरोधा' पत्रिका के सम्पादन का भार सौंपा गया। उसे डर लगा कि कहीं उसका सिर फूल न जाये और महत्त्वाकांक्षा फिर से न जाग उठे। यह समस्या उसने माताजी के आगे रखी।

सभी महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे एक सत्य होता है जो अभिव्यक्त होने के लिए उचित समय की प्रतीक्षा करता है। अब, जब कि तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा जा चुकी है, सत्य (योग्यता और क्षमता) की अभिव्यक्ति का समय आ गया है।

पूरी सावधानी रखो कि सिर 'फूलने' न पाये, लेकिन मैं तुम्हारे साथ हूँ। कुछ रुचिकर चीज़ करने के लिए तुम्हारी सहायता कर रही हूँ।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद। १९६२

माताजी,

आश्रम से सम्बद्ध व्यक्ति एक डायरी निकालना चाहता है (व्यापारिक उद्देश्य के लिए नहीं) जिसमें वह विवेकानन्द, रामतीर्थ इत्यादि के

संग आपकी कृतियों से भी उद्धरण देना चाहता है। मैंने उससे कहा कि इस तरह की खिचड़ी बनाना ठीक नहीं। ज़्यादा अच्छा है कि माताजी के उद्धरण न दो। क्या यह ठीक है?

तुम्हारी बात **बिलकुल ठीक** है। अगस्त १९६२

मैंने सुना है कि तुम्हें इन्फ्लुएंज़ा हो गया है—यह नहीं चलेगा।

तुम्हें **विश्राम** करना चाहिये—लेकिन हो यह **एकाग्र शक्ति का विश्राम**, विरोधी शक्तियों के प्रति अप्रतिरोध का हलका निस्तेज आराम नहीं।

ऐसा विश्राम जो एक **शक्ति** है, दुर्बलता का विश्राम नहीं।

उठो, ख़ुश हो जाओ मेरे बालक, और कुप्रभावों को झाड़ फेंको।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ। ७ जनवरी १९६३

माताजी,

आपको आपके नये शरीर में देखने की मेरी बहुत इच्छा है। वर दीजिये कि तब तक आप जो कुछ दें उसे ग्रहण और आत्मसात् करने की शक्ति आये मेरे अन्दर।

मेरा ख़याल है, तुम्हारा मतलब है मेरे **नये रूप या रूपान्तरित शरीर से**। क्योंकि नये शरीर के लिए मैं ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं जानती जो ऐसा पूर्ण जीता-जागता शरीर बन सके जिसमें मैं अपनी वर्तमान चेतना को किसी अंश में भी खोये बिना, पदार्पण कर सकूँ। निश्चय ही यह अपेक्षाकृत ज़्यादा तेज़ प्रक्रिया होती, लेकिन इस शरीर के उन कोषाणुओं के प्रति उचित और सन्तोषजनक न होती जो इतने उत्साह के साथ और स्वेच्छा से अपने-आपको रूपान्तर के कठोर कार्य के लिए अर्पित कर रहे हैं।

बहरहाल, जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूँ, इसके लिए तुम्हें लम्बे समय तक प्रतीक्षा करने के लिए तैयार रहना चाहिये, और उससे पहले बहुत-से जन्मदिन गुज़रते हुए देखने के लिए तैयार रहना चाहिये। और यह बहुत अच्छी बात है और मैं पूरी तरह स्वीकार करती हूँ।

सप्रेम। २५ जनवरी १९६३

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३२०-२१

वह ख़ुशनसीब दिन

अनगिनत हृदयस्पर्शी कहानियों में से एक यह भी है जिसकी रचयिता जगत्-विख्यात अमरीकी फ़िल्म-नायिका कैथरीन हेपबर्न हैं। कहते हैं यह उनके बचपन की कहानी है। आइये, उन्हीं के शब्दों में सुनें—

तब मैं किशोरी थी, सर्कस और फ़िल्में देखने की बेहद शौकीन... शहर में नया सर्कस आया नहीं कि पिता जब तक मुझे दिखाने नहीं ले जाते, मैं उनका सिर चाट जाती, वैसे हमेशा मेरी पूरी-पूरी कोशिश यही रहती थी कि पहले ही दिन देख आऊँ जिससे दोस्तों के सामने कुछ रुआब भी झाड़ सकूँ... लेकिन हमेशा यह मुमकिन नहीं होता, क्योंकि आख़िर पिता को अपनी जेब भी टटोलनी पड़ती थी, ख़ास कर पहले दिन के टिकट बड़े महँगे हुआ करते थे।

ख़ैर, शहर में नया सर्कस आया। अब मैं बड़ी बेताबी से इन्तज़ार करने लगी कि कब आयेगी वह शुभ घड़ी। आख़िर आ पहुँचा वह मुहूर्त—हम टिकट ख़रीदने की क़तार में खड़े थे... मेरा रोम-रोम चहक रहा था, तभी मेरी नज़र पंक्ति में ठीक हमारे सामने लगे परिवार पर पड़ी—इस परिवार का मुझ पर अच्छा-ख़ासा प्रभाव पड़ रहा था। इसमें थे आठ बच्चे और सभी बारह वर्ष से कम उम्र के होंगे। उनकी पोशाकों से ही मैं फ़ौरन ताड़ गयी कि ये पैसेवाले तो नहीं हैं, लेकिन सभी एकदम साफ़-सुथरे कपड़े पहने हुए थे। बच्चे अपने माता-पिता के पीछे दो-दो की क़तार बाँधे, हाथ में हाथ डाले, ख़ुशी से सराबोर, बड़ी शालीनता के साथ प्रसन्न खड़े थे। उनकी वह ख़ुशी किसी से छुपी न रह सकती थी। मैं ठीक उनके पीछे खड़ी उनकी गुपचुप बातों का मज़ा ले रही थी। सर्कस के जोकरों, जानवरों और सभी कलाबाज़ियों के बारे में उनकी अटकलबाज़ियों को सुन कर किसी को भी यह अनुमान लगाने में दिक़्क़त न होती कि यह परिवार पहली दफ़ा सर्कस देखने जा रहा है और यह भी कि आज ये सब अपनी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा त्योहार मनाने जा रहे हैं। धीरे-धीरे पंक्ति छोटी होती गयी और अब उन बच्चों के माता-पिता तन कर टिकट-काउण्टर के सामने खड़े थे। पत्नी अपने पति का हाथ थामे, अपने-आपको दुनिया की सबसे ख़ुशनसीब माँ और पत्नी का ओहदा ओढ़े खड़ी थी मानों! उधर पति अपने बच्चों और

पत्नी की ख़ुशी में फूला न समा रहा था।

टिकट बेच रही महिला ने पूछा, "कितने टिकट चाहियें आपको सर?" उन्होंने बड़े गर्व और उत्साह के साथ कहा, "बच्चों के आठ और बड़ों के दो चाहता हूँ मैम!" और पिता ने पीछे मुड़ कर एक मुस्कान अपने परिवार पर बिखेर दी। इधर महिला ने दाम बताये... पत्नी का हाथ पति के हाथ से फिसल गया, पति के होंठ फड़फड़ाने-से लगे, काउण्टर पर कुछ झुक कर पति ने दोबारा पूछा, "कितना कहा आपने मैम?" महिला ने दाम दोहराया।

ज़ाहिर था कि पिता के पास इतने पैसे नहीं थे। वे किस तरह घूम कर अपने बच्चों से यह बात कहते भला? पल-भर में सारा माज़रा भाँप कर मेरे पिता ने अपनी जेब से २० डॉलर का नोट ज़मीन पर गिरा दिया —ध्यान रहे, हमारी ग़िनती भी ग़रीबों में ही हुआ करती थी—फिर मेरे पिता ने झुक कर नोट उठाया और उन सज्जन के कन्धे पर हलकी टकोर देते हुए बोले, "माफ़ कीजियेगा सर, यह आपकी जेब से गिर गया।" उन सज्जन ने तुरन्त ताड़ लिया कि क्या चल रहा है। अपने आत्म-सम्मान में ज़रा भी आँच न आते देख वे सज्जन सिर से पैर तक कृतज्ञता की साकार मूर्ति बन गये। मेरे पिता के बढ़े हुए हाथ को उन्होंने अपने दोनों हाथों में कस कर दबाया। आँसूभरी आँखें बरस पड़ीं, वे बोल उठे, "शुक्रिया, शुक्रिया सर, शुक्रिया। यह मेरे परिवार और मेरे बच्चों के लिए बहुत-बहुत मायने रखता है सर!" और मूक वाणी में, अपने अन्दर की सारी कृतज्ञता नेत्रों में उतार कह बैठे, "कैसे धन्यवाद दूँ आपका मेरे फ़रिश्ते...!!!"

पिता ने मेरी ओर नज़र उठायी, हम दोनों की नज़रें चार हुईं और मैंने आँखों ही आँखों में उन्हें अपनी सहर्ष स्वीकृति दे दी। उन्होंने अपनी दृष्टि से ही मुझसे कह दिया था, "बेटी चलो, लौट चलें।"

हम पलट कर अपनी गाड़ी की तरफ़ बढ़ने लगे। अब हमारे पास अपने टिकट ख़रीदने के लिए पैसे नहीं बचे थे। मैंने देखा, सारी घटना से एकदम बेख़बर वे बच्चे तो पहले ही की तरह चहचहा रहे थे और वे दम्पति टिकट ख़रीद कर, हम दोनों की ओर टकटकी बाँधे, चुपके से हाथ जोड़े, अपने हृदय की सारी कृतज्ञता आँखों में लिये तब तक हमें निहारते रहे, बीच-बीच में हाथ हिलाते रहे जब तक हम गाड़ी में न जा बैठे। हम भी अपने हाथ

ज़ोर-ज़ोर से हिलाते-हिलाते उनके अभिवादन का प्रत्युत्तर देते रहे।

बचपन का वह दिन मेरी ज़िन्दगी का बहुत बड़ा दिन था जिस दिन मेरे पिता ने मुझे ज़िन्दगी का कितना अहम् पाठ सिखा दिया था।

उस रात हम सर्कस नहीं देख पाये, लेकिन जो सन्तोष और ख़ुशी लूट लाये उस पर सौ-सौ सर्कस निछावर...।

—वन्दना

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२०० रु.; तीन वर्ष—५८०रु.;पाँच वर्ष—९६० रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सच्चे स्नेह का स्रोत

एक बार स्वामी रामतीर्थ संयुक्त राज्य अमरीका जा रहे थे। बन्दरगाह समीप आ रहा था। हर कोई अपना सामान इकट्ठा करने लगा, लेकिन स्वामी रामतीर्थ वैसे ही बैठे रहे और देखते रहे कि कैसे दूसरे लोग अपना सामान इकट्ठा कर रहे थे और इधर-से-उधर दौड़ रहे थे।

अन्त में बन्दरगाह आया। जहाज़ भूमितट पर जा लगा। सैकड़ों लोग किनारे पर आये हुए थे। रिश्तेदार और मित्र आगन्तुकों का स्वागत कर रहे थे। इन लोगों की भीड़ का वहाँ पर इतना हो-हल्ला हो रहा था, परन्तु स्वामी रामतीर्थ वैसे ही बैठे रहे—पूरी तरह शान्त और मौन।

इतने में एक नवजवान अमरीकी लड़की वहाँ आयी। उसे यह देख कर अचम्भा हुआ कि जहाज़ की सारी चहल-पहल का उस व्यक्ति पर कोई असर नहीं हुआ। उसे स्वभावतः जिज्ञासा हुई कि यह कैसा व्यक्ति है, जिसकी कोई तमन्ना नहीं? आख़िर, उससे रहा नहीं गया। वह उनके पास जाकर पूछने लगी—"आप कहाँ से आये हैं और कौन हैं?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं हिन्दुस्तान का फ़कीर हूँ।"

"क्या आपके पास यहाँ ठहरने के लिए ज़रूरी पैसा है, या आपका यहाँ किसी से परिचय है?"

"नहीं, मेरे पास कोई धन-सम्पत्ति नहीं है। हाँ, मेरा परिचय अवश्य है।"

"किससे?"

"आपसे और थोड़ा भगवान् से।"

"फिर तो आप मेरे घर चलेंगे।"

"अवश्य चलूँगा।"

स्वामी रामतीर्थ इस भद्र महिला के यहाँ ठहर गये।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य और भगवान् पर ऐसा भरोसा ही सच्चे स्नेह का स्रोत बहाता है।

प्रस्तुतिः नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

Date of Publication: 1st May 2021
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70